



गीताविज्ञानभाष्य-आचार्य-रहस्यान्तर्गत-

[चतुर्थखण्ड]

ज्योति-कृष्ण रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिक

प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।



गीताविज्ञानभाष्य-आचार्य-रहस्यान्तर्गत-
[चतुर्थखण्ड]
ज्योति-कृष्ण रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिक



प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

मुद्रक :

श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
“मानवाश्रम”, दुर्गापुरा रोड,
जयपुर-१५

प्रकाशकीय

“गीता—विज्ञानभाष्यः आचार्य रहस्य” के क्रम में कृष्ण-तत्त्व का विवेचन करने के लिए स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री ने जो निबन्ध-माला तैयार की है उसका एक और पुष्प ‘ज्योति-कृष्ण-रहस्य’ प्रस्तुत है। इसमें ज्योति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का विशद विवेचन किया गया है और यह स्थापित किया गया है कि ज्योति का ही निरुक्त स्वरूप हमारा यह विश्व है। नाम-रूप के साथ ज्योति का अभिन्न सम्बन्ध है और नाम-रूप सत्य हैं, अतः यह जगत् भी सत्य है। शास्त्री जी ने एकाधिक बार आग्रहपूर्वक यह स्पष्ट किया है कि जगन्मिथ्या का उद्घोष सर्वथा अवैज्ञानिक एवं निराधार है। यह जगत् सत्य है, नाम-रूप सत्य हैं और ज्योति भी सत्य है। ये सब एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न व्यक्तरूप हैं।

इस निबन्ध को प्रकाशित करते हुए मुझे परम प्रसन्नता है। गहन दार्शनिक विवेचन के कारण यह ग्रन्थ जितना जटिल है, सारगर्भित और तत्त्वचिन्तनपरक होने से उतना ही महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय भी है।

डॉ. मदनगोपाल शर्मा [सेवानिवृत्त एसोसिएट प्रोफेसर, राजस्थान विश्वविद्यालय] ने मनोयोगपूर्वक इसका भाषा-सम्पादन, शुद्ध पाठ-निर्धारण एवं सन्दर्भ-शोधन कर इसे परिष्कृत तथा सुपाठ्य-रूप में प्रस्तुत करने का श्रम किया है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री के सुपौत्र श्री० प्रद्युम्नकुमार शास्त्री इसे शुद्ध एवं शीघ्र मुद्रित करने में सचेष्ट और तत्पर रहे हैं, जो सराहनीय हैं।

नवरात्रि

वि० सं० २०४५

—कर्पूरचन्द्र ‘कुलिश’

॥ श्री ॥

ज्योति कृष्ण रहस्यम्

“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽ-
यमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” ॥

(मुण्डक० २।२।१०)

सच्चिदानन्दधन अव्यय का पहला -“प्रतिष्ठा अवतार” है । व्यापक सत्ता का नाम-सत्ता है; भिद्यमान सत्ता का नाम प्रतिष्ठा है । व्यापक सत्ता एक है-भिद्यमान सत्ताएँ अनन्त हैं । संसार में जितने भी पदार्थ हैं-उतनी ही-प्रतिष्ठाएँ हैं । घट-पट-मठ-सूर्य-चन्द्र-पर्वत-नदी-तालाब-समुद्र-चन्द्र-उपवन इत्यादि यच्चयावत् पदार्थों की प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न है । अस्तित्व का नाम ही प्रतिष्ठा है । ‘है’-इसका नाम ही प्रतिष्ठा है । यह है-प्रतिपदार्थ में भिन्न-भिन्न है । घट का अस्तित्व पट के अस्तित्व से भिन्न है-पट का अस्तित्व घट के अस्तित्व से भिन्न है । घट के अस्तित्व-विनाश से पट के अस्तित्व का कुछ नहीं बिगड़ता-पट के अस्तित्व-विनाश से घट-अस्तित्व का कुछ नहीं बिगड़ता । कहने का तात्पर्य यही है कि पदार्थ-भेद से प्रतिष्ठा-तत्त्व सर्वथा भिन्न हो जाता है । यह प्रतिष्ठा-अव्यय-प्रतिष्ठा, त्रयीविद्या-प्रतिष्ठा एवं वीर्य-प्रतिष्ठा भेदेन तीन प्रकार की है । प्रत्येक पदार्थ में तीनों प्रतिष्ठाएँ रहती हैं । तीनों अविनाशूत हैं । एक के हट जाने से बाकी दोनों प्रतिष्ठाएँ अपने-आप हट जाती हैं । इन तीनों प्रतिष्ठाओं में प्रधान प्रतिष्ठा अव्यय-लक्षण-ब्रह्म-प्रतिष्ठा ही है । यह प्रतिष्ठा आलम्बनस्वरूप है । इस पर ही त्रयीविद्या-प्रतिष्ठा और वीर्य-प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रहती हैं । अतएव हम अव्यय-लक्षण ब्रह्म-प्रतिष्ठा को अवतार कहेंगे । यह अव्यय व्यापक प्रतिष्ठा ही उतर कर, जगह-जगह नाम-रूप धारण कर चमकने लगती है । उस सर्वज्ञ सर्ववित् ज्ञानमूर्ति व्यापक कृष्ण का पहला यही प्रतिष्ठा-अवतार है । पूर्व के प्रतिष्ठा-कृष्ण-रहस्य में इसी का स्वरूप बतलाया गया है । प्रतिष्ठा

के बाद-ज्योति का अवतार होता है । सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र इत्यादि-इत्यादि पदार्थों में जो एक ठहराव दिखलाई पड़ता है-प्रतिष्ठा दिखलाई देती है-वही साक्षात् कृष्ण का अवतार है । प्रतिष्ठा नाम है- 'है' का, अस्तित्व का । यह 'है'-भाव उसी व्यापक 'है' का अवतार है । वही व्यापक 'है' का अवतार है । वही व्यापक 'है' यत्-किञ्चित्-प्रदेशेन परिच्छिन्न हो-अवतार शब्द से व्यवहृत होने लगता है । इस अवतार के होते ही दूसरा ज्योतिरवतार होता है-जिसका कि स्वरूप इस "ज्योतिःकृष्ण रहस्य" में बतलाया जाएगा ।

“यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥”

(मुण्डक० १।१।६)

इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि उस व्यापक ब्रह्म के-जो कि सर्वज्ञ है-सर्ववित् है; जिसका तप अर्थात् प्राण-व्यापार ज्ञानमय है-ब्रह्म, नामरूप, अन्न-ये तीन अवतार होते हैं । वही व्यापक सर्वज्ञ ब्रह्म तीन रूप धारण कर विश्वातीत स्थान से विश्व में उतरता है । विश्वातीत विश्व में तीन स्वरूप धारण करके उतरता है-अथवा-तीन स्वरूपों में परिणत हो दृष्टिगोचर होता है-अतएव इन तीनों को हम उस ब्रह्म के-सत्यकृष्ण के-अवतार कहने के लिए तय्यार हैं । यही सत्य-कृष्ण मानुषकृष्णपर्यन्त-अपने दस अवतार धारण करता है । इन दसों अवतारों में सबसे पहला अवतार-‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ श्रुति के कथनानुसार-ब्रह्म-अवतार अर्थात् प्रतिष्ठा-अवतार है । ब्रह्म नाम है प्रतिष्ठा का, नामरूप-नाम है ज्योति का, अन्न नाम है यज्ञ का । ब्रह्म-नामरूप-अन्न-कहो या प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ कहो, एक ही बात है । कहना हमें यही है कि तीनों में पहला प्रतिष्ठा-अवतार है । प्रतिष्ठा के बाद ज्योति का अर्थात् नामरूप का अवतार होता है । बात वास्तव में ठीक है । नामरूप किसी अन्य वाच्य की अपेक्षा रखते हैं । नामरूप वाचक है । वाचक की स्थिति बिना वाच्य के नहीं हो सकती । प्रतिष्ठित भाव का ही नाम और रूप होता है । घट एक पदार्थ पहले से मौजूद है, तभी उसमें नामरूप का व्यवहार होता है । यह नाम है-यह रूप है-उसी समय यह प्रश्न होता है कि किसका नाम है ? किसका रूप है ? कहना यही है कि नामरूप प्रतिष्ठा की

अपेक्षा रखते हैं। यदि कोई वस्तु 'है' तो उसका नाम और रूप भी है। सूर्य एक अग्नि का गोला पहले से प्रतिष्ठित रहता है, तब उसका सूर्य यह नाम पड़ता है—गोल उसका रूप होता है। बस जिसका नाम है एवं जिसका रूप है—वही प्रतिष्ठा तत्त्व है। प्रतिष्ठा का जन्म नामरूप से पहले अपेक्षित है। यदि प्रतिष्ठा नहीं तो कोई वस्तु नहीं—वस्तु ही नहीं तो नामरूप किसका? अतएव मानना पड़ता है कि—नामरूप के अर्थात् ज्योति के अवतार के पहले—प्रतिष्ठा ब्रह्म का ही—प्रतिष्ठाकृष्ण का ही—अवतार होता है। इसीका विस्तृत विवेचन “प्रतिष्ठा कृष्ण” रहस्य में किया गया है। प्रतिष्ठा के अवतरित होते ही उसी क्षण ज्योति का अर्थात् नामरूप का अवतार हो जाता है। सच है, यदि कोई प्रतिष्ठित-अस्तित्वयुक्त वस्तु है तो उसका कोई न कोई नाम भी अवश्य ही है एवं रूप भी अवश्य ही है। प्रतिष्ठा—अवतार के होते ही नामरूपावतार हो जाता है। प्रतिष्ठा के अनन्तर है नामरूपापरपर्यायिक ज्योतिरवतार। बस, हम इस क्रमप्राप्त, ज्योतिरवतार का ही स्वरूप बतलाएँगे—

“नतत्र सूर्या भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥”
(मुण्डक २।२।१०)

इस मन्त्र श्रुति से ज्ञानज्योति और सूर्य, चन्द्र, तारक, विद्युत्-स्वरूप भूतज्योति ये दो ज्योतियाँ सिद्ध होती हैं। श्रुति कहती है—सूर्य, चन्द्र, तारक, विद्युत् में जो तुम प्रकाश देख रहे हो—वह प्रकाश वास्तव में इनका प्रकाश नहीं है अपितु उस प्रकाश के प्रकाश से ही यह सारे प्रकाशित हो रहे हैं। सूर्य—चन्द्र—तारक—विद्युत्—तीनों भौतिक वस्तुएँ हैं—मैटीरियल चीजें हैं। श्रुति कहती है—इनमें जो चमक है वह इनकी नहीं है—इनसे अतिरिक्त तत्त्व की यह चमक है। वह अतिरिक्त तत्त्व—सिवाय ज्ञान के और कुछ नहीं हो सकता। कर्म—समष्टि को ही ‘भूत’ कहते हैं। कर्म से अलग—अकर्म अर्थात् ज्ञान ही है। ज्ञान और कर्म के अलावा कोई तीसरी वस्तु है ही नहीं। ऐसी अवस्था में—भूतज्योति का निदेश कर जिस अन्य ज्योति की ओर श्रुति संकेत कर रही है, वह अन्य ज्योति ज्ञान—ज्योति के अतिरिक्त हो ही नहीं

सकती । अतएव हम कह सकते हैं कि “न तत्र” इत्यादि श्रुति-ज्ञानज्योति और भूतज्योति—दोनों की ओर हमारा ध्यान दिलवाती है । भूतज्योति-सूर्य, चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र—इनके अलावा है ही नहीं । सामान्य मनुष्य इसे भाषा में “उजाला” कहते हैं—उस उजाले के अधिष्ठाता ये चार ही देवता हैं । इन चारों ज्योतियों की अधिष्ठात्री यही पांचवीं ज्ञान-ज्योति है । चार भूत-ज्योतियाँ इस ज्ञान-ज्योति के आधार पर अवलम्बित रहती हैं एवं एक प्रकार से ज्ञान-ज्योति भूतज्योति पर अवलम्बित रहती है । “ज्योतिश्चरणाभिधानात्”—उक्ति में ज्योति शब्द से ज्ञान ज्योति ही अभिप्रेत है । इस ज्ञान-ज्योति से ही सूर्यचन्द्रमादि भूतज्योतियाँ प्रकाशित रहती हैं । आत्म-ज्योति ही का नाम ज्ञान-ज्योति है । यह ज्ञान-ज्योति भूत-ज्योति से कहीं बढ़-चढ़ कर है । भूतज्योति अन्धकार का प्रत्यक्ष नहीं करवा सकती । अन्धकार भूतज्योति के आते ही भाग जाता है पर यह ज्ञानज्योति अन्धकार को भी प्रकाशित करती है । एवं जब तक ज्ञानज्योति अर्थात् आत्म-ज्योति रहती है तभी तक—सूर्य—चन्द्र—विद्युत्—तारक—प्रकाशित दिखलाई पड़ते हैं । सूर्य का प्रकाश ज्ञानज्योति की सत्ता पर अवलम्बित है । यदि ज्ञानज्योति नहीं है तो सूर्य ही क्या, संसार मात्र कोई वस्तु नहीं है । “आप मरा जग प्रलय” यह आभाणक सोलहग्राना (पूर्णतः) ठीक है । जब तक शरीर में चेतना है—ज्ञान-ज्योति है—तभी तक सूर्यचन्द्रादि प्रकाशित दिखलाई पड़ रहे हैं । सूर्य—ज्योति को प्रकाशित करने वाली ज्ञान-ज्योति ही है । जिस दिन ज्ञान-ज्योति न रहेगी उस दिन-सूर्यचन्द्रादि सब गायब हो जाएँगे । इसीलिए तो—

“तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति”—(मुण्डक २।२।१०)—यह कहा है । परन्तु साथ ही में यह भी ध्यान रहे कि ज्ञानज्योति भी किसी अंश में भूतज्योति की अपेक्षा रखती है । सूर्य—प्रकाश जब तक रहता है तभी तक आत्मा प्रफुल्लित रहता है—विकसित रहता है । सूर्यास्त होते ही आत्मा संकुचित हो जाता है; पर्दे में छुप जाता है । इसीलिए कहा जाता है—
 “तं गर्भं भवन्तमिमाः सर्वाः प्रजा अनुगर्भा भवन्ति” (शत. २।३।१।३)

यदि अन्धकार में—काल—कोठरी में—किसी मनुष्य को बन्द कर दिया जाता है तो उसकी तबियत घबड़ाने लगती है । उसका आत्मा

व्याकुल हो जाता है। यही नहीं—यदि अधिक समय तक उसे वहीं रक्खा जाता है तो आत्मा आक्रांत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जैसे भूतज्योति को ज्ञानज्योति की अपेक्षा है, तद्वत् ज्ञान-ज्योति को भी भूत-ज्योति की अपेक्षा है। एक मनुष्य को आप किसी काम के लिए दूर जंगल में भेजिए। यदि सूर्य की सत्ता होगी अर्थात् दिन होगा तो वह खुशी-खुशी वहाँ जाना स्वीकार कर लेगा। यदि दिन न होगा और चाँदनी रात होगी अर्थात् चन्द्रमा की सत्ता होगी तब भी जाना स्वीकार कर लेगा। परन्तु यदि चाँदनी रात भी न होगी तो जाने में हिचकिचाहट करेगा। बहुत कहने-सुनने पर, यदि जाना स्वीकार कर भी लेगा, तो लालटेन को साथ लेना चाहेगा। अग्नि की सहायता बिना अर्थात् प्रकाश की सहायता बिना वह अकेला अँधेरी रात में नहीं जा सकता। यदि दीपक न होगा तो किसी अन्य मनुष्य को साथ लेना चाहेगा। रोशनी न होने पर भी, यदि दूसरा आदमी साथ होता है तो, बोलते-चलते, मार्ग कट जाता है। वाक् भी एक प्रकार की ज्योति है। पूर्वोक्त वाग्ज्योति का अग्नि-ज्योति में समावेश है एवं विद्युत-ज्योति का वाग्ज्योति में समावेश है। वाक् भी एक प्रकार की बिजली है। यह भी एक प्रकार का प्रकाश है। जंगल में यदि कोई मनुष्य भय से काँपता रहता है और उस समय यदि किसी मनुष्य की बोली सुन लेता है तो उसका भय दूर हो जाता है एवं उसे ढाँढ़स बँध जाता है। आत्मा सूर्य से बना हुआ है अतएव प्रकाश से उसे आनन्द मिलता है। प्रकाश में भय नहीं रहता और चूँकि वाक् से भय मिटता है अतएव वाक् को भी हम ज्योति कहने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार सूर्य—चन्द्र—तारक (अग्नि) और विद्युत् अर्थात् वाक्—ये चार भूत-ज्योतियाँ हैं। यदि ये चारों ही नहीं होती हैं और फिर घोर अँधेरी रात में वह मनुष्य जंगल में चला जाता है तो वह अपनी आत्मज्योति से ही प्रकाशित रहता है। कौन आ सकता है ? यदि कोई आएगा तो, दो हाथ, उससे अपन भी करेंगे—इस प्रकार विचार करता रहता है। यह उसी आत्म-ज्योति की महिमा है। थोड़ी देर तक आत्म ज्योति काम करती है। यदि अधिक समय तक इसे भूत-ज्योति नहीं मिलती है तो आत्मा उत्क्रान्त हो जाता है। बस, मनुष्य का जीवन सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अर्थात् तारक एवं वाक् अर्थात् विद्युत् एवं आत्मा अर्थात् ज्ञान—इन पाँच ज्योतियों पर ही अवलम्बित है।

अतएव महाराजा जनक के— “हे याज्ञवल्क्य ! पुरुष किज्योति है अर्थात् पुरुष किस ज्योति से जीवित रहता है ?” यह पूछने पर भगवान् याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—यह प्रकरण इस प्रकार निबद्ध है—

“जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम । समेनेन वदिष्येः इति । अथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्च—अग्निहोत्रे समूदतुः । तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ । स ह कामप्रश्नमेववद्रे । तं हास्मै ददौ । तं ह सम्राडेव पूर्वः पप्रच्छ—याज्ञवल्क्य ! किं ज्योतिरियं पुरुष इति । आदित्य ज्योतिः सम्राडिति हो वाच × × × याज्ञवल्क्यः ! अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते किं ज्योतिरेवायं पुरुष इति—अग्निः ज्योतिः सम्राट् इति होवाच × × × याज्ञवल्क्यः ! × × × अस्त मितऽआदित्ये, × × × चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किज्योतिरेवायंपुरुष इति—वाग्ज्योतिः—सम्राट्—इति होवाच याज्ञवल्क्यः × × × अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्य—चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किज्योतिरेवायं पुरुष इति—आत्म-ज्योतिः सम्राट्—इति होवाच—आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते—पल्ययते—कर्म कुरुते—विपर्यते इति ।

(शत० १४।७।१।१-६)

..... इस सारे प्रपञ्च से हमें यही बतलाना है कि ज्योति संसार में ज्ञान और भूत भेदेन दो ही प्रकार की है । सूर्य, चन्द्र, तारक (अग्नि) विद्युत् (वाक्) ये चार भूतज्योति हैं एवं पाँचवीं ज्ञान-ज्योति है । इसी को आत्म-ज्योति भी कहते हैं । बस, इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैंः—

“न तत्र सूर्यो भाति”—इत्यादि मन्त्र श्रवणात् द्विविध ज्योतिरभ्युपगम्यते—ज्ञान ज्योतिश्च । सूर्य, चन्द्राग्नि, विद्युत्तारकमिति भूतज्योतिश्चेति ।”

हमने वाक् को भूतज्योति में बतलाया है; यह बात, ज्ञान-भूत-ज्योति के अग्निभाव की अपेक्षा से कही गई है । वास्तव में वाक् आत्म-ज्योति है । ज्ञान-ज्योति का नाम ही वाक् है । वाक्-ज्ञान की अनुग्राहिणी है । जो ज्ञान

की अनुग्राहक होती है उसे आत्म-ज्योति कहते हैं एवं जो चक्षुरिन्द्रिय की अनुग्राहक होती है वह भूत-ज्योति नाम से व्यवहृत होती है। वाक् कहते हैं—गौ, घट, पट इत्यादि शब्दों को। ये शब्द ज्ञान के अनुग्राहक हैं। इन से ज्ञान होता है। शब्द सुनते ही ज्ञान-स्वरूप मन तदाकाराकार में परिणत हो जाता है। यदि कोई मुँह से 'गाय' शब्द बोल देता है तो उसी समय हमारे ज्ञान में गाय का फोटो खिंच जाता है। शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा नित्य है। इसीलिए कहा जाता है:—

“न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥” इति वाक्यपदीय.....

कहना यही है कि वाक् ज्ञान की ओर झुकती है। गाय—इस शब्द के सुनने से चक्षुरिन्द्रिय के सामने गाय नहीं आती, किन्तु ज्ञान में उसका फोटो उतरता है, अतएव वाक् को हम आत्म-ज्योति अर्थात् ज्ञान-ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं परन्तु सूर्य, चन्द्र आदि चक्षु के अनुग्राहक हैं। इनका प्रकाश चक्षुरिन्द्रिय के लिए उपयोगी है। यदि इन चारों में से एक भी न होगा तो चक्षुरिन्द्रिय किसी का भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अतएव इन चारों को हम भूत-ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं।

ये भूत और ज्ञान ज्योति दोनों ही, नामरूप द्वारा संसार के यच्चयावत् पदार्थों को प्रकाशित करते हैं; अतएव नामरूप को ज्योति कहा जाता है। ज्ञान, भूत दोनों नामरूप में परिणत हो कर ही संसार के पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। ज्ञान-भूत दोनों ही ज्योति हैं। इन्हीं से सारा संसार प्रकाशित होता है परन्तु सीधे (डायरेक्ट) न हो कर नामरूप-स्वरूप में परिणत हो कर ये संसार के पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। अतएव हम नामरूप को अवश्य ही ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं। पुस्तक, घट, पट, मठ इत्यादि पदार्थों का जो हम भिन्न-भिन्न रूप देखते हैं, उसके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है वह तो वास्तव में ज्योति ही है। पदार्थों पर सूर्य की रश्मियाँ पड़ती हैं। वही पदार्थाकाराकारित हो प्रतिफलित होती हैं। बस, प्रतिफलित जो सूर्य-रश्मियाँ हैं वे ही तो रूप हैं। तदाकाराकारित, प्रतिफलित हो कर आँखों पर आने वाली सूर्य-

रश्मियाँ ही तो 'रूप' है । सूर्य-रश्मियाँ ही रूप की कारणभूता हैं, अतएव रात्रि में पदार्थों के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता । अतएव मानना पड़ता है कि रूप अवश्य ही ज्योति है । बाकी बचता है नाम । गौ-सूर्य-चन्द्र-घट-पट-मठ ये नाम कहलाते हैं । "सूर्यश्चन्द्रोऽग्निर्वागात्मा-इति पञ्च-ज्योतिरयं पुरुषः" इस श्रुति में 'वाक्' को भी अर्थाविभासक कारण बतलाया है । वाक् ही से नाम बनते हैं । एवं अवभास ही का नाम ज्योति है । अतएव नाम भी अवश्य ही ज्योति है । नाम सुनते ही ज्ञान चमक पड़ता है । नाम से विषय चमक पड़ते हैं, अतएव हम नाम को अवश्य ही ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं । परन्तु इतनी बात अवश्य सत्य है कि रूप का तो प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु नाम का प्रत्यक्ष नहीं होता । घट के रूप का तो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो जाता है परन्तु 'घट'-इस नाम का चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता । कहना तो प्रकृत में यही है कि नाम और रूप से ही संसार के पदार्थ प्रकाशित होते हैं । प्रकाश को ही ज्योति कहते हैं, अतएव नामरूप को हम अवश्य ही ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं । नाम और रूप के अलावा विश्व में कोई तीसरा पदार्थ है ही नहीं । 'है'-इस सत्ता व्यवहार के साक्षी नामरूप ही हैं । यदि नाम और रूप हैं, तो पदार्थ भी है । यदि नाम और रूप दोनों ही नहीं हैं तो पदार्थ भी नहीं है । नाम-रूप ही अस्ति के साक्षी हैं । अतएव हम अवश्य ही नामरूप को ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं । जो कुछ भासता है-प्रतीत होता है, वह नामरूप ही तो है । या तो रूप का प्रत्यक्ष होता है या नाम भासित होता है । नामरूप के अलावा और तीसरी वस्तु है ही क्या ? भासने ही को तो प्रकाश कहते हैं । प्रकाश का नाम ही तो ज्योति है, फिर क्यों न हम नामरूप को ज्योति कहें ?—

"तदुभयमिदं (भूतज्ञानम्) नामरूपात्मना सर्वमर्थं द्योतयतीति कृत्वा नाम रूप ज्योतिरुच्यते । सूर्यश्चन्द्रोऽग्निर्वागात्मा-इति पञ्चज्योतिरयं पुरुष इति श्रुतौ वाचोऽप्यर्थाविभासकत्वश्रवणान्नाम्नोऽपि ज्योतिष्ट्वं नोपपद्यते (अवश्यमुपपद्यते इति भावः) तस्मान्नामरूपं ज्योतिः ।

सारे विश्व में नाम-रूप-कर्म ये तीन ही तत्त्व हैं । नाम-रूप-कर्म के अलावा कोई चौथी चीज है ही नहीं । इन तीनों में-संसार में-जितने भी

नाम हैं उन नामों का आत्मा वाक् है, एवं संसार में जितने भी रूप हैं—उन रूपों का आत्मा चक्षु है अर्थात् मन है । चक्षु से चक्षुरिन्द्रिय अभिप्रेत नहीं है; अपितु चक्षु पर बैठा हुआ प्रज्ञामन अभिप्रेत है । यह प्रज्ञामन दस इन्द्रियों सहित ग्यारहवें इन्द्रिय मन तक पर व्याप्त रहता है । अतएव इस प्रज्ञामन को सर्वेन्द्रियमन भी कहा जाता है । यह प्रज्ञामन ही सारी इन्द्रियों पर व्याप्त रहता है । यही श्रोत्र पर जा कर शब्द ग्रहण करता है, नासिका पर जाकर गन्ध ग्रहण करता है, यही रसना पर जा कर स्वाद चखता है, यही त्वगिन्द्रिय में जा कर स्पर्श का अनुभव करता है एवं यही सर्वत्र व्याप्त रहता है । अतएव इस प्रज्ञान के लिए—

“स वा एष प्रज्ञानात्मा आत्मोमय आनावाग्नेभ्यः” यह कहा जाता है । यह प्रज्ञान सारी इन्द्रियों पर व्याप्त रहता है अतएव इसे श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण—इन इन्द्रिय नामों से ही व्यवहृत कर दिया जाता है । बिना प्रज्ञान के सारी इन्द्रियाँ बेकार हैं अतएव प्रज्ञान को ‘इन्द्रियाँ’ कह दिया जाता है । इसीलिए कहा जाता है—

“केनेषितं पतति प्रेषितं मनः (इन्द्रियमनः) केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।”

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।”

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।

चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केनोपनिषद् १।१-२)

कहने का तात्पर्य्य यही है कि यही प्रज्ञामन चूँकि सब पर रहता है अतएव इसे दस इन्द्रियों के नाम से व्यवहृत करने लगते हैं । रसना पर बैठा हुआ प्रज्ञान जैसे केवल स्वाद ही चख सकता है, उस स्थान पर बैठा हुआ रूप वगैरः नहीं देख सकता तथैव चक्षु पर बैठा हुआ प्रज्ञान, रूप ही का प्रत्यक्ष कर सकता है, घ्राण आदि का नहीं । रूप ग्रहण करने वाला केवल चक्षुः-स्थित प्रज्ञान मन ही है—बस—इसी अभिप्राय से—‘रूपाणां चक्षुरिति’ यह कह

दिया गया है। वास्तव में चक्षु से चक्षुःस्थित प्रज्ञामन ही अभिप्रेत है। रूप का आत्मा यही मन है। मन ही वस्तु के आकार में परिणत हो जाता है। मन ही घोड़ा बनता है, हाथी बनता है और मन ही पर्वतादि बन जाता है। रूप का अधिष्ठाता मन ही है। एवं संसार में जितने भी कर्म हैं उन सब का अधिष्ठाता आत्मा है अर्थात् शरीर है। कर्म का नाम है क्रिया—वह उस शरीर पर ही होती है। अंगुली हिलने का नाम क्रिया है। यह अंगुली के आधार पर होती है। हिलना अंगुली पर होता है। अंगुली ही उस क्रिया की आत्मा है। चलना, फिरना, सोना, खाना, बातचीत करना, रोना, हँसना इत्यादि—इत्यादि सारी क्रियाएँ इसी आत्मा पर—इसी शरीर पर—होती हैं। कर्म का आत्मा—आत्मा ही है, अर्थात् शरीर ही है। उक्थ, ब्रह्म और साम—इन तीनों की समष्टि का नाम ही आत्मा है। नामों का उक्थ—ब्रह्म, साम और वाक् है अतएव वाक् को हम नाम का आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं। रूप का उक्थ—ब्रह्म, साम, चक्षु है अर्थात् प्रज्ञामन है अतएव इसे हम रूपों का आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं। कर्मों का उक्थ—ब्रह्म, साम, आत्मा, अर्थात् शरीर है अतएव इसे हम कर्मों का आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं। उक्थ होता हुआ, साम होता हुआ, जो जिसका ब्रह्म होता है, वही उसका आत्मा है। उक्थ कहते हैं प्रभव को—उत्पत्ति कारक को। जिससे वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाम है उक्थ। एवं उत्पन्न होकर जिस पर वह वस्तु प्रतिष्ठित रहती है उसी का नाम है—ब्रह्म। प्रतिष्ठा का नाम ही तो ब्रह्म है। एवं जिसमें वह वस्तु अन्त में लीन हो जाती है उसे ही साम कहते हैं। प्रभव का नाम उक्थ है, प्रतिष्ठा का नाम ब्रह्म है एवं परायण का नाम—साम है। बस, जो जिस वस्तु का प्रभव, प्रतिष्ठा और परायण होता है, वही उस वस्तु का आत्मा कहलाता है। 'यस्य यः प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं स तस्य आत्मा' यही आत्मा का लक्षण है। मिट्टी से ही घड़े उत्पन्न होते हैं अर्थात् मिट्टी ही घड़े का उक्थ है। मिट्टी पर ही घड़े प्रतिष्ठित रहते हैं एवं अन्त में घड़ा मिट्टी में ही मिल जाता है, अतएव मिट्टी को हम घड़े का आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं। उक्थ—साम—ब्रह्म का अर्थात् प्रभवपरायण—प्रतिष्ठा का नाम ही आत्मा है। पृथिवी में से ही वृक्ष—मनुष्यादि उत्पन्न हो कर पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं एवं अन्त में पृथिवी में ही लीन हो जाते हैं अतएव वृक्ष

मनुष्यादि का आत्मा पृथिवी को माना जाता है । इसी भित्ति पर हम वाक्-मन-शरीर को नाम-रूप-कर्म का आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं । जितने भी नाम हैं वे इस वाक् से ही निकलते हैं; वाक् ही नामों का उक्थ है; इस वाक् ही पर नाम प्रतिष्ठित रहते हैं एवं अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं; अतएव हम वाक् को नामों का उक्थ-साम-ब्रह्म अर्थात् आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं । इसी प्रकार संसार के यच्चयावत् रूप मन से ही उठते हैं-मन ही रूपों का उक्थ है एवं यही ब्रह्म है अर्थात् उत्पन्न हो कर सारे रूप इसी पर प्रतिष्ठित रहते हैं एवं अन्त में इसी में विलीन हो जाते हैं अर्थात् यही इन सब का साम है अतएव मन को रूपों का उक्थ-साम और ब्रह्म अर्थात् आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं । इसी प्रकार क्रिया शरीर से ही निकलती है, इसी पर प्रतिष्ठित रहती है एवं इसी में विलीन हो जाती है अतएव इसको अर्थात् शरीर को हम क्रिया का आत्मा कहने के लिए तैय्यार हैं । नाम-रूप-कर्म तीनों का आत्मा वाक्-मन-शरीर है । इन नाम-रूप-कर्मों को छोड़ कर वास्तव में संसार में और कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता है—

“त्रयं वा इदं नामरूपकर्म । तेषां (नामरूपकर्मणाम्) नाम्नां वागिति, रूपाणां चक्षुरिति, कर्मणामात्मेति (शरीरमिति) उक्थं-साम-ब्रह्म ।”

वाक्-चक्षु-आत्मा अर्थात् शरीर ही नाम-रूप-कर्म का उक्थ-साम-ब्रह्म है । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं:-

इसी से अर्थात् वाक्-चक्षु-आत्मा से ही क्रमशः सारे नाम, सारे रूप और सारे कर्म उत्पन्न होते हैं । नाम-रूप-कर्म वाक्-चक्षु-आत्मा से ही निकलते हैं । सारे सामों का उक्थ यह वाक् है । सारे रूपों का उक्थ मन है एवं सारे कर्मों का उक्थ यह आत्मा अर्थात् शरीर है ।

“अतो हि (वाचः-चक्षुषः-आत्मनः (शरीरात्) सर्वाणि नामानि (वाचः)-सर्वाणि रूपाणि (चक्षुषः)-सर्वाणि कर्माणि (शरीरतः) उत्तिष्ठन्ति ” । तात्पर्य्य इस श्रुति-वाक्य का यही है कि नाम-रूप-कर्म, वाक्-चक्षु-शरीर से ही उठते हैं अतएव वाक्-चक्षु-शरीर को हम नामरूपकर्म का उक्थ कहने के लिए तैय्यार हैं ।

एवमेव ये ही तीनों—सारे रूपों में सम हैं, सारे कर्मों में सम हैं एवं सारे नामों में सम हैं। तात्पर्य्य यही है कि एक ही मिट्टी के पचास वर्तन बने हुए हैं, परन्तु मिट्टी सर्वत्र वही है। मिट्टी सर्वत्र समान है, अतएव मिट्टी को हम उन सारे घड़ों का साम कहेंगे। ऋक् नाम है मूर्ति का। घट—पटादि मूर्तियाँ हैं। इन सारे घट—पटादि में यह मृत्तिका समानरूपेण मौजूद है, विद्यमान है। घड़े में भी मिट्टी है, माट में भी मिट्टी हैं, भाल में भी मिट्टी है, करवे में भी मिट्टी है एवं मिट्टी सर्वत्र ऋक् से समान है। घड़ा-भाल-माट की ये मूर्तियाँ ही 'ऋक्' हैं। क्योंकि मिट्टी मूर्ति के समान है अर्थात् जिसकी मूर्ति—घड़ा है उसी की भाल है। अतएव मिट्टी को हम घट, भाल, मटकी इत्यादि का साम कहने के लिए तैय्यार हैं। "ऋचा समं मेने" यही तो साम का लक्षण है। नाम सर्वत्र भिन्न-भिन्न हैं परन्तु वाक् सर्वत्र समान है। सारे नामों में वाक् समान है इसीलिए हम वाक् को नामों का साम कहने के लिए तैय्यार हैं।

संसार के यच्चयावत् पदार्थों के रूप भिन्न-भिन्न हैं। एक की दूसरे से शकल जरा भी नहीं मिलती। परन्तु चक्षु अर्थात् मन सर्वत्र समान है। चक्षु में सबके रूपों का समावेश है। मन रूपत्वेन सारे रूपों में समान है अतएव हम मन को रूपों का साम कहने के लिए तैय्यार हैं। यह मन—सारे रूपों में समान है। मन सब रूपों में समानभावेन व्याप्त है।

एवमेव संसार के जितने भी कर्म हैं—सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सब का अधिष्ठाता शरीर ही है। शरीर ही सारे कर्मों में समान है। चलना दूसरी क्रिया है; खाना, हँसना, दूसरी क्रियाएँ हैं। अभिप्राय यह कि क्रियाएँ सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु शरीर सारी क्रियाओं में समान है। अतएव क्रिया का अर्थात् कर्मों का, इस शरीर को, साम कहते हैं। नाम—रूप—कर्म का जैसे वाक्—चक्षु—शरीर उक्थ है तथैव ये तीनों इन तीनों के साम भी हैं। यही तात्पर्य्य है—

“एतद्वि (वाक्-चक्षु-आत्मा) सर्वैर्नामभिः (वाक्) सर्वैः रूपैः (चक्षुः) सर्वैः कर्मभिः (शरीरम्) समम्।” क्योंकि तीनों क्रमशः तीनों के समान हैं अतएव तीनों को तीनों का साम बतलाया जा सकता है। यही इस श्रुति का तात्पर्य्य है।

अब बचा ब्रह्म अर्थात् प्रतिष्ठा । वाक्-चक्षु और शरीर-ये ही क्रमशः अपने ऊपर सारे नामों को-सारे रूपों को-सारे कर्मों को धारण करते हैं । वाक्-सारे नामों को अपने ऊपर धारण करती है अर्थात् सारे नाम वाक् पर प्रतिष्ठित रहते हैं । चक्षु अर्थात् मन-सारे रूपों को अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखता है एवं आत्मा अर्थात् शरीर सारे कर्मों की प्रतिष्ठा है । प्रतिष्ठा तत्त्व ही का नाम ब्रह्म है; अतएव हम वाक्-चक्षु-आत्मा को नाम-रूप-कर्म की प्रतिष्ठा अर्थात् ब्रह्म बतला सकते हैं । जैसे वाक् नामों का उक्थ एवं साम है तथैव नामों का ब्रह्म भी यही वाक् है अतएव इस वाक् को हम नामों का आत्मा कह सकते हैं । एवमेव जैसे चक्षु-रूपों का उक्थ और साम है तथैव इन रूपों का ब्रह्म भी अर्थात् प्रतिष्ठा भी मन ही है । एवमेव आत्मा अर्थात् शरीर जैसे कर्मों का उक्थ और साम है तथैव यही उनका ब्रह्म भी है; अतएव हम शरीर को-कर्मों का आत्मा कह सकते हैं, क्योंकि—“यदुक्थं सत् यत् साम सत्-यद् ब्रह्म स्यात्” ।.....“यो यस्य प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं स तस्य आत्मा” यही तो आत्मा का लक्षण है । इसी ब्रह्म स्वरूप को बतलाती हुई श्रुति कहती है—एतद्वि सर्वाणि नामानि (वाक्) सर्वाणि रूपाणि (मन) सर्वाणि कर्माणि (आत्मा) बिभर्ति—(तस्माद् ब्रह्म-इति भावः).....

आगे जा कर श्रुति कहती है कि उक्थ-साम-ब्रह्म इन तीनों का मेल ही आत्मा है । तात्पर्य यह है कि उक्थ-अलग आत्मा है, साम अलग आत्मा है, ब्रह्म अलग आत्मा है; उक्थ साम से पृथक् वस्तु है, साम-ब्रह्म से पृथक् वस्तु नहीं है-इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । तीनों को मिला कर एक आत्म-स्वरूप बनता है एवं तीनों भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं, तीनों तीन हो कर भी एक वस्तु है । उक्थ-साम-ब्रह्म की समष्टि का नाम आत्मा है । उक्थ नाम है कारण का-साम नाम है रश्मि का एवं ब्रह्म नाम है परावर्तित रश्मि का । सूर्य उक्थ है, सूर्य की रश्मियाँ साम हैं एवं वही रश्मियाँ अपने ऊपर स्थित पदार्थों की प्रतिष्ठा हैं । तीनों कहने को तीन हैं, वास्तव में तीनों एक हैं । मिट्टी उक्थ है । वही साम है और वही ब्रह्म है । तीनों मिट्टी ही हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में तीनों भाव अनुल्वण रहते हैं एवं तीनों रूप-सृष्टि में उल्वण हो जाते हैं । तीनों मिला कर एक आत्मा है- यों समभिए-अथवा-एक

आत्मा ही उक्थ, ब्रह्म, साम-इन तीन स्वरूपों में परिणत हो गया है-यों समझिए-दोनों में समान भाव है । उक्थ-ब्रह्म-साम-यह आत्मसमष्टि नहीं है अपितु तीनों की समष्टि एक आत्मा है । एक ही मनुष्य किसी का काका है, किसी का मामा है किसी का नाना है, किसी का बाप है तथा किसी का बेटा आदि है । एक ही सब कुछ बन रहा है । परन्तु याद रखो-वह नाना, मामा, काका आदि की समष्टि नहीं है । इसी प्रकार आत्मा एक है, वही उक्थ है, वही साम है-वही ब्रह्म है । यह बात नहीं है कि उक्थ भी एक आत्मा है, साम भी एक आत्मा है एवं तीनों की समष्टि आत्मा है । बस इसी बात को बतलाती हुई तथा द्वैतभाव का खण्डन करती हुई श्रुति कहती है—

“तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा एकमस्त्येतत्त्रयम्”

आगे जा कर श्रुति कहती है-यह आत्मा अमृततत्त्व सत्य से ढका हुआ है । संसार में हम सत्य के (नाम-रूप के) ही दर्शन करते हैं । आत्मा ऐसे पर्दे में जा छुपा है-ऐसे पर्दे में जा छुपा है-कि उसका पता ही नहीं है । प्राण ही तो अमृततत्त्व है । जो प्रतिष्ठा ब्रह्म है, अस्ति तत्त्व है, यही तो प्राण है । एवं इस अमृत सत्य पर रहने वाले नामरूप दोनों सत्य हैं । कर्म कहते हैं पदार्थ को, पदार्थ की स्थिति रहती है इसी प्राण पर । प्राण सर्वत्र एक है । नामरूप भिन्न-भिन्न हैं । एक ही अमृततत्त्व नामरूप सत्यों के कारण नाना भाव में परिणत हो रहा है । भिन्न-भिन्न क्षर भेद से एक ही अक्षर तत्त्व-प्राणत्व-किंवा अमृततत्त्व नानाभावयुक्त बन रहा है । उदाहरणार्थ-लकड़ी पर ध्यान दीजिए-लकड़ी एक है । वही जल कर कोयला बन जाती है, राख बन जाती है । वही वृक्ष थी, वही पानी थी, सब कुछ वही थी । कोयलों को देखकर व्यवहार होने लगता है कि यह उसी लकड़ी के कोयले हैं । यह लकड़ी ही तो कोयला बन गई है । वही तो यह है । हम कहते हैं—“वही तो यह है”—इसमें वही क्या चीज है ? कोयला सर्वथा भिन्न पदार्थ है, लकड़ी एकदम विभिन्न वस्तु है । फिर यह ‘वही’ व्यवहार किस पर होता है ? बस, जिसके लिए ‘वही’ व्यवहार होता है वही अमृततत्त्व है । वही प्राण है-जो नामरूप के बदलने पर भी नहीं बदलता । अतएव इस प्राण को हम अमृत कहने के लिए तैयार हैं । यह प्राणतत्त्व सदा नामरूप सत्य से ढका रहता है:—

“तदेतदमृतंसत्येनाच्छन्नम् । प्राणो वाऽअमृतम् । नाम रूपे सत्यम् । ताभ्यामयंप्राणश्छन्नः ।” (शत० १४।४।३)

श्रुति द्वारा यह सुना जाता है । इस श्रुति में जहां “रूपाणां चक्षुरिति” यह कहा गया है वहां चक्षु को मन का उपलक्षण समझना चाहिए, जैसा कि वहीं बतला दिया गया है । लाल-काला-पीला-हरित इत्यादि जितने भी रूप हैं वे सब के सब चक्षु द्वारा मन ही देखता है । चक्षु तो द्वार है-करण है । अतएव ‘रूपाणाम् चक्षुरिति’ कह दिया जाता है । वस्तुतः रूपों का आत्मा मन को ही समझना चाहिए । ‘कर्मणाभात्मा’ में शरीरवाचक जो आत्म शब्द है उसे प्राण का उपलक्षण समझना चाहिए । क्योंकि वाङ्-मन-प्राण इन तीनों से क्रमशः नाम-रूप और कर्म उत्पन्न होते हैं । प्राण ही से कर्म उत्पन्न होते हैं । क्रिया प्राण ही पर होती है । क्रिया तब तक उपपन्न नहीं हो सकती जब तक कि इसका कोई निष्क्रिय आलम्बन न मान लिया जाय । बस इसका आलम्बन यही निष्क्रिय प्राण-सत्य है । जो कि नित्य है—एवं आलम्बन है । अस्ति ही इस प्राण का स्वरूप है । सब कुछ बदल जाता है परन्तु नामरूप नहीं बदलते—तत्र चक्षुरिति मनसः, शरीरं चात्मशब्दं प्राणस्योपलक्षणम् । वाङ्मनःप्राणेभ्यः क्रमेणैषां नामरूपकर्मणामुत्पत्तेः संभाव्यमानत्वात् ।

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—मन ही रूप स्वरूप है । मन ही रूप बन जाता है । यह काला है, यह पीला है, यह हरित है—इस प्रकार मन ही से—‘इदं शुक्लं इदं पीतम्’ इत्यादि रूप ज्ञात होता है । वाक् ही नाम की जननी है । वाक् ही नाम एवं रूप में परिणत होती है । वाक् से ही तो देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुदत्त, भवदत्त, रुद्रदत्त इत्यादि नामों का ग्रहण किया जाता है । बस यही तो सब कुछ है जो कि रूप और नाम है । नाम-रूप ही तो सब कुछ है । नाम-रूप के अलावा और बच क्या जाता है ? जो मनुष्य सर्वस्वरूप इस नामरूप की महिमा जान जाता है, वह सारी विश्व-सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है । जो सर्व है, वही अक्षय्य है । व्यष्टि अनित्य है, क्षय्य है, समष्टि नित्य है—प्रक्षय्य है । रामचन्द्र मर गए, कृष्ण मर गए; सब कुछ हुआ-संसार वैसे का वंसा ही है एवं रहेगा । सर्वभाव सर्वथा अक्षय्य है । युनिवर्सल में कभी परिवर्तन नहीं होता । व्यापकत्वेन सारा विश्व

अक्षय्य है। अवयवत्ववेन सारा प्रपञ्च क्षय्य है। कुम्हार के चाक की बिन्दु-बिन्दु बदल रही है, चल रही है, नष्ट हो रही है परन्तु चाक सर्वथा स्थिर है। वह एक सूत भी आगे नहीं चलता। इसी प्रकार संसार का प्रत्येक अवयव चल है परन्तु समुदाय अचल है। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

“मनो वै रूपम् । मनसा हि वेद-इदं रूपामति । वाग् वै नाम । वाचा हि नाम गृह्णाति । एतावद् वा इदं सर्वं यावद् रूपं चैव नाम च । तत् सर्वमाप्नोति । सर्वं वा अक्षय्यम् ।” इति

(वाजसनेय संहिता ११।१।११।६)

पूर्वोक्त श्रुति-प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि नामरूप ज्योति-स्वरूप है। संसार में यदि हम कुछ देखते हैं तो नाम और रूप को ही देखते हैं। नामरूप के अलावा विश्व में और किसी के दर्शन होते ही नहीं। मन ने रूप में, एवं वाक् ने नाम में परिणत हो कर अमृतप्राण को ढक रक्खा है। नामरूप सत्य से वह अमृततत्त्व ढका हुआ है। ‘नामरूप’ ही योगमाया कहलाती है। इस नामरूपात्मक योगमाया से ही वह अव्यय आत्मा—वह अमृत प्राण—टिका हुआ है। योगमाया में योगमाया—उसके पेट में फिर योगमाया, उसके भी पेट में फिर योगमाया—इस प्रकार योगमायाओं का राज्य इतना बढ़ गया है, नाम रूप ऐसे फैले हैं—ऐसे फैले हैं—कि इनके कारण उस आत्म-तत्त्व का कहीं पता ही नहीं है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—“नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः” इति। हमारा मन घट पर जा कर तदाकाराकारित बन जाता है, वही रूप कहलाता है। इसके साथ नाम भी बँधा रहता है। बस, इन दो के अलावा और हम देखते ही क्या हैं? देखने का नाम ही तो प्रकाश है। रूप और नाम भी भासते हैं। यदि नाम और रूप कुछ न हों तो फिर वास्तव में अन्धकार ही मच जाय। नाम-रूप ही विश्व के प्रकाशक हैं, अतएव हम अवश्य ही नाम-रूप को ज्योति कहने के लिए तैय्यार हैं। ‘तत्रैते, नामरूपे सत्यं ज्योतिः’ इति। वाङ्मय ज्योति का नाम—‘नाम’ है, मनोमय ज्योति का नाम—‘रूप’ है। ‘वाक्’ शब्दों की अधिष्ठात्री है। वाक् से ही शब्द बनते हैं, अतएव वाङ्मयज्योति को हम नाम कहने के लिए

विन्दु
वह
चल
श्रुति
प्राग्
रूप

तैय्यार हैं। अतएव—‘पञ्चज्योतिरयं पुरुषः’ में ‘वाक्’ को भी ज्योति बतलाया गया है। इसी प्रकार मन ही रूप का अधिष्ठाता है। मन ही घट, पट, मठ हस्ती, अश्व, नील, पीत-हरित इत्यादि रूपों में परिणत होता है। तात्पर्य कहने का यही है कि दार्शनिक लोग वाङ्मय ज्योति को ‘नाम’ शब्द से व्यवहृत करते हैं एवं मनोमय ज्योति को ‘रूप’ शब्द से व्यवहृत करते हैं। इस मनोमय वाङ्मय ज्योति से अर्थात् नामरूप सत्य से वह अमृतप्राण आपृत हो रहा है—

“वाङ्मयं ज्योति नामेति, मनोमयं तु ज्योतीतिः रूपमिति व्यपदिश्यते” । इति ॥

वाङ्मनस्वरूप जो सत्य ज्योतियाँ हैं इन्हीं से यह प्राणमय अमृततत्त्व पृथक्त्वेन प्रतिभासित हो रहा है। प्राण एक है—वह नाना नहीं है। यह एक ही प्राण—एक ही अमृततत्त्व—एक ही आत्मा—एक ही ब्रह्म—एक ही आभू नाम-रूप के कारण नाना भाव में परिणत हुआ—दिखलाई पड़ता है। प्रतिभाति का तात्पर्य यही है कि दिखलाई मात्र पड़ता है, वास्तव में नाना नहीं। ‘प्राण’ वही है, नाम—रूप भिन्न हैं। पानी वही है परन्तु उपाधि-भेद से आयतन-भेद से, एक ही पानी के सरित् सर, निर्भर, उल्लास, वीची, फेन—बुद्बुद इत्यादि नाम हो जाते हैं। आकाश एक है, परन्तु घट, पट, मठ—इत्यादि उपाधि-भेद से खण्डवत् प्रतीत होने लगता है, वास्तव में आकाश एक है। ठीक इसी प्रकार नाना भाव उपाधिकृत हैं। नाना नाम हैं, प्राण नाना नहीं हैं। क्यों कि प्राण, उसी का आलम्बन है अतएव प्राण नानाभावेन प्रतिभासित होने लगता है। प्रतिबिम्ब कभी नहीं हिला करता, पानी हिलता है परन्तु पानी पर ही प्रतिबिम्ब रहता है, अतएव वह हिलता हुआ प्रतीत होने लगता है। वास्तव में प्रतिबिम्ब अचल है, नित्य है। लकड़ी को जल में डालो, थोड़े समय में ही सड़ जायगी, परन्तु प्रतिबिम्ब, चाहे लाख वर्ष तक पानी में रहे, उसका कुछ नहीं बिगड़ता। प्रतिबिम्ब पर कितनी ही तलवारें चलाओ, वह नहीं कट सकता। इसीलिए तो—

“नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं केलदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(गीता २।२३)

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

(गीता २।२४)

यह कहा जाता है । अस्तु कहना यही है कि वाङ्मय सत्यज्योतिर्ना-
नात्व से, नामरूपनानात्व से यह व्यापक अमृततत्त्व नानारूपेण प्रतिभासित
होने लगता है । घट, पट, मठ, सूर्य चन्द्र-इत्यादि में जो प्राणभेद मालूम
प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण नामरूप ही है । नामरूप को हटाते
जाइए । नामरूप के आवरण को जब एकान्ततः हटा दिया जाएगा तो उसी
समय नाना भाव गायबगुल्ला हो जाएगा । प्राण के नाना भाव में प्रतिभा-
सित होने का कारण एकमात्र नाम-रूप ही है—“वाङ् मनसाभ्यां हीदं सर्वं
प्राणमयममृतं सत्याभ्यां ज्योतिर्भ्यां पृथक्त्वेन प्रतिभाति” । इति ॥

वाक् और अर्थ की तरह ये नामरूप अन्योन्य संसक्त रहते हैं । नाम-
रूप दोनों अव्यभिचरित हैं । न तो नाम, बिना रूप रह सकता है और न रूप,
बिना नाम रह सकता है । दोनों लाजिम-मलजूम हैं । नाम के आते ही भट
रूप कूद पड़ता है एवं रूप के आते ही भट नाम कूद पड़ता है । दोनों का
औत्पत्तिक सम्बन्ध है । दोनों एक समय में एक साथ उत्पन्न होते हैं । किसी
ने कहा—रामलाल । बस, नाम सुनते ही रामलाल की तस्वीर खिच जाती
है । ‘गौ’ शब्द के सुनते ही गौ का रूप दृष्टि में घूमने लगता है एवं गाय
को देखते ही उसका नाम मन ही मन में उद्भूत हो पड़ता है ।
नाम—वाक् है—रूप—अर्थ है । नाम-रूप का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है । संसार में
ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो कि शब्द के बिना हो जाय । जिसका नाम
मालूम नहीं होता, उस के लिए ‘अस्तिकिञ्चित्’—इस नाम का ही प्रयोग होने
लगता है । अर्थ और शब्द अर्थात् नाम और रूप सर्वथा अविनाभूत हैं । इसी-
लिए भर्तृहरि कहते हैं—“न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते । अनु-
विद्वन्निवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते” ॥ इति ॥

लोक में हम देखते हैं कि किसी वस्तु का नाम सुनने वाले इस मनुष्य के मन में उस वस्तु का रूप उतर जाता है। यदि कोई मनुष्य 'देवदत्त' यह नाम सुनता है तो उसी समय उसके मन में उस के रूप का भी फोटो उतर आता है। एवं नाम न सुन कर यदि वह मनुष्य देवदत्त का रूप देख लेता है तो इसका मन रूप के साथ ही उसी समय नाम की ओर झुक पड़ता है। अतएव हम कह सकते हैं कि नाम-रूप वास्तव में अन्योन्य संसक्त ही रहते हैं। "नाम-रूप" वास्तव में अविनाभूत हैं। न नाम-बिना रूप रह सकता है और न रूप-बिना नाम रह सकता है—'वागर्थविब नामरूपेहीमे अन्योन्य संसक्ते भवतः। दृश्यते हि-तन्नाम शृण्वतोऽस्य मनस्तद्रूपेऽवतरति। तद्रूपं वा पश्यतोऽस्य मनः— (सहैव) तन्नाममन्ववतरतीति"।

यही बात जैमिनीय मीमांसा-सूत्र में बतलाई जाती है। शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध बतलाते हुए भगवान् जैमिनी कहते हैं—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेस्तत्प्रमाणम्" इति। जैमिनी कहते हैं—शब्द का अर्थ के साथ अर्थात् विषय के साथ जो सम्बन्ध है वह औत्पत्तिक है। शब्दार्थ का सम्बन्ध उत्पन्नशिष्ट नहीं है अपितु उत्पत्तिसृष्ट है। पुस्तक का और मेज का, स्याही का और दवात का—होल्डर और निब का—जो सम्बन्ध है वह उत्पन्नसृष्ट है। पुस्तक-टेबिल आदि पहले स्वातन्त्र्येण उत्पन्न होते हैं—बाद में इनका परस्पर सम्बन्ध होता है। हमारी किसी मनुष्य के साथ जो शत्रुता हो गई है—यह शत्रुता-सम्बन्ध अथवा मित्रता-सम्बन्ध उत्पन्नशिष्ट संबंध है—नैमित्तिक है—नित्य नहीं है। आज शत्रुता है, कल नहीं है। परन्तु विष के साथ जो हमारा शत्रुता-सम्बन्ध है, वह औत्पत्तिक-सम्बन्ध है। इसी को सहज सम्बन्ध कहते हैं। मूषक और मार्जार का, सिंह और गौ का, छिपकली और मक्खी का, कुत्ते और बिल्ली का, बिल्ली और छोटे पक्षियों का, चिड़िया और छोटे-छोटे कीड़ों का, जो सम्बन्ध है, वह औत्पत्तिक सम्बन्ध है। इन सब में नैसर्गिक शत्रुता है। नई शत्रुता पैदा नहीं होती, ये तो जन्म से ही शत्रुता लिए पैदा होते हैं। बस, ठीक इसी प्रकार शब्दार्थ का भी उत्पत्तिशिष्ट संबंध है न कि उत्पन्नशिष्ट। नाम उस अर्थ के साथ ही उत्पन्न होता है। कितने ही दार्शनिक कहते हैं—नाम

हम रखते हैं। परन्तु वे भूल करते हैं। नाम रखना परमेश्वर का काम है। अर्थ बिना नाम के एक लमहे (अर्थात् पल) भर भी नहीं रह सकता। ऐसी हालत में तुम क्या नाम रख सकते हो? संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन सब के नाम पदार्थों के साथ उत्पन्न होते हैं। मनुष्य नया नाम नहीं घड़ा करता। वह तो संकेत मात्र कर देता है। देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुदत्त-घट-मठ-सूर्य-चन्द्र इत्यादि अनन्त नाम पहले से ही विद्यमान हैं, हमारा काम सिर्फ केवल संकेत करना है। इसे देवदत्त कहना चाहिए—इतना सा तुम्हारा काम है। देवदत्त शब्द तुमने नया घड़ लिया—यह बात हर्गिज नहीं है। नाम अर्थ दोनों पहले से मौजूद हैं। यदि नाम पहले से न हो तो हजार प्रयत्न करने पर भी तुम नहीं बना सकते थे। जो वस्तु रहती है, उसी से व्यवहार चलता है। जो है, वह 'नहीं' नहीं हो सकती। जो नहीं है, वह 'है' नहीं हो सकती। अतएव दार्शनिक शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

“नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २।१६)

जब भगवान् जोर दे कर “जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता; जो नहीं है, उसकी सत्ता नहीं हो सकती” यह कह रहे हैं, तो फिर ऐसी अवस्था में नाम नया उत्पन्न होता है—यह कहना, सिवाय उन्मत्त प्रलाप के और क्या कहा जा सकता है? अतएव सिद्धान्त समझना चाहिए—अर्थ और शब्द दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध है। अर्थ उत्पन्न हो गया और अब उसके साथ इस नाम को जोड़ दिया—ऐसा उत्पन्न शिष्ट सम्बन्ध कभी नहीं समझना चाहिए क्योंकि शब्दार्थ का उत्पत्तिशिष्ट सम्बन्ध है, अतएव ‘सर्वे सर्वार्थवाचका दाक्षीण्यस्य पाणिनेः’ यह कहा जाता है। संसार में जितने भी नाम हैं वे सब अर्थों के वाचक हैं। घड़े को रोटी कहा जा सकता है, रोटी को घड़ा कहा जा सकता है। हाथी को मनुष्य कहा जा सकता है, मनुष्य को हाथी कहा जा सकता है। ऊँट को गधा कहा जा सकता है और गधे को ऊँट कहा जा सकता है। सब को सब नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। ऐसा व्यवहार भूँठा नहीं है अपितु सच्चा है—सवासोलहाना सच्चा है। इसका एक मात्र

कारण हैं—शब्द और अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध ! वाक् से ही शब्द उत्पन्न होता है एवं वाक् से ही अर्थ उत्पन्न होते हैं । अर्थ अर्थात् पदार्थ और पदार्थों के नाम-दोनों वाक् से ही उत्पन्न होते हैं । वाक् नाम है आकाश का, आकाश नाम पोल का नहीं समझ लेना चाहिए, अपितु आकाश नाम है इन्द्र का-ईश्वर का । इसका विस्तृत विवेचन हम प्रतिष्ठा-कृष्ण-रहस्य में कर आए हैं ।

आकाश-मर्त्य और अमृत भेदेन दो प्रकार का है । जो अमृताकाश है उस से देव-सृष्टि होती है । मर्त्याकाश से भूत-सृष्टि होती है । यह जो मर्त्याकाश है, वही वाक् है । इसी से भौतिक-सृष्टि होती है । यह भौतिक सृष्टि-भूत और शब्द अर्थात् अर्थ और शब्द-दो प्रकार होती है । इसी वाक् से शब्द-सृष्टि होती है और इसी वाक् से अर्थ-सृष्टि होती है । अतएव वाचीमा विश्व भुवनान्यपिता यह कहा जाता है । वाक् क्या वस्तु है, यदि यह पूछना चाहते हो, तो इसका उत्तर है—प्राण । एक ही प्राण जिसे कि आकाशप्राण कहेंगे, चिति द्वारा अर्थ और शब्द-सृष्टि का निर्माण करता है । इसी प्राण पर जब रस, असृङ्, मेदा, मज्जादि का चयन होता है तो इससे भौतिक सृष्टि होती है एवं इसी प्राण पर अक्षर के चुनाव से शब्द-सृष्टि होती है । इसी प्राण से अर्थात् वाक् से अर्थ और शब्द-सृष्टि होती है । अतएव सर्वे सर्वार्थवाचकाः यह कहा जाता है । सारे भूतों का निर्माण-अग्नि से और सोम से होता है । अग्नि एक प्रकार का वाक् ही है । इधर शब्द भी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं । शरीर में रहने वाला अग्नि ही क-च-ट-त-प स्वरूप में परिणत हो कर निकलता है । इसीलिए तो—अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत कहा जाता है । उधर एक ही वाक् अग्नी-षोम के तारतम्य से नाना भूतों में परिणत हो जाता है । सोम-अग्नि के तारतम्य से ही नाना पदार्थ बन जाते हैं । इधर एक ही अग्नि स्पर्श और ऊष्मा के तारतम्य से सारे शब्द-समूह में परिणत हो जाता है । अग्नि का स्वभाव विनाश करना है । अग्नि वस्तु को फाड़ देता है । एवं सोम, ठीक इसके विरुद्ध, संकोच करता है । संकोच करना—सोम का काम है; विकास करना, अग्नि का काम है । इस सोम के लिहाज (अपेक्षा) से हमने स्पर्श कहा है । एवं अग्नि के लिहाज (अपेक्षा) से ऊष्मा कहा है । इसी स्पर्श और ऊष्मा के तारतम्य से अर्थात् अग्नि-सोम के तारतम्य से शब्द-सृष्टि होती है ।

इसी के तारतम्य से अर्थ-सृष्टि होती है । एक ही वाक् दोनों का कारण है । एक ही आकार २८८ (दो सो अठचासी) वर्णों में परिणत हो जाता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“अकारो वै सर्वावाक् सा स्पर्शोष्मभिव्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति” । शब्द-सृष्टि और अर्थ-सृष्टि का एक कायदा (नियम, पद्धति) है, जिसका कि इस प्रसंग में विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना होगा । उस ब्रह्म के-शब्द और अर्थ-दो ही रूप हैं । दोनों की उत्पत्ति एक ही नियम से हुई है । इसीलिए कहा जाता है—

द्वे वा ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इस सारे प्रपञ्च से हमें यही बतलाना है कि शब्द और अर्थ-दोनों का उपादान कारण वाक् ही है अतएव सारे नाम सब अर्थों के वाचक हैं । यह यौगिक शब्द है, यह रूढ़ है, यह योगरूढ़ है—इस प्रकार की जो अर्गलाएँ हैं, ये भाषा से सम्बन्ध रखती हैं । प्राकृतिक-वैज्ञानिक मार्ग में इन यौगिकादिकों का कोई मूल्य नहीं है । वैज्ञानिक-मार्ग पर जा कर देखने से कोई भी शब्द रूढ़ नहीं रहता । सारे शब्दों का निर्माण अर्थ के अनुसार हुआ है । अतएव भाष्यकार बड़े जोरदार शब्दों में इस रूढ़ का खण्डन करते हुए लिखते हैं—“न सन्ति यदृच्छाः शब्दाः” किसी भी शब्द का कोई अर्थ न हो, यह बात बिल्कुल मिथ्या है । यदि नाम है तो उस का अर्थ भी अवश्य है एवं अर्थ है तो उसका नाम भी अवश्य ही है । बस, इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भगवान् जैमिनी कहते हैं—“औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः” आगे जा कर जैमिनी प्रश्न करते हैं कि हमें इस का ज्ञान कैसे हो ? इस से यह रोग मिटता है, इस नाम का यह अर्थ है—यह ज्ञान कैसे हो ? इसका उत्तर देते हैं—“तस्य ज्ञानमुपदेशः” इस कार्य्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान उपदेश से अर्थात् शास्त्र से होता है । इसका यह नाम है—इसका यह नाम है, इसका यह गुण है—इसका यह गुण है—यह बात ज्ञान-उपदेश पर निर्भर है । शास्त्र बतलाएगा—“अयं पदार्थः—इदं शब्देन वाच्यः” अस्य पदार्थस्य देवदत्त

ग है ।
ग है ।

रूपा
) है,
उस
म से

शब्दों वाचकः—यह संकेत कराना शास्त्र का काम है, परन्तु ध्यान रहे कि वर्तमान शब्दार्थ का ही संकेत किया जाता है, नया संकेत नहीं किया जाता है । एक अर्थ के अनेक नाम हैं । शास्त्र कहता है कि इसे और नामों से व्यवहृत न करके इस नाम से व्यवहृत करना चाहिए । बस, व्यवहारार्थ—एक प्रकार की नियति, उपदेश द्वारा की जाती है । इस औत्पत्तिक-सम्बन्ध का ज्ञान उपदेश पर ही निर्भर है । कुनेन में बुखार मिटाने की शक्ति है । कुनेन की यह शक्ति सर्वथा नित्य है । इसका ज्ञान, आपको उपदेश द्वारा होता है । उपदेश द्वारा वर्तमान सम्बन्ध का ज्ञान कराया जाता है न कि कुनेन में बुखार मिटाने की शक्ति नई कायम की जाती है । अर्थ और शब्द का सम्बन्ध पहले से ही वर्तमान है ।

दोनों
हैं ।
लाएँ
का-
भी
है ।
हुए
हो,
एवं
में
:"
से
का
ज्ञान
है,
।
त्त

वर्तमान का शास्त्र एवं वृद्धोपदेश द्वारा ज्ञान-मात्र कराया जाता है, न कि वहाँ नया नाम-सम्बन्ध किया जाता है । नया सम्बन्ध हो भी कैसे सकता है ? शब्दार्थ का सम्बन्ध जोड़ना परमेश्वर का काम है । हम इसमें सर्वथा असमर्थ हैं । जब दो वस्तुएँ होती हैं तभी तो उनका परस्पर सम्बन्ध किया जाता है । परन्तु यहाँ तो न शब्द पकड़ में आता है और न अर्थ ही पकड़ में आता है । जयपुर—यह शब्द निकलते ही नाम गायब हो जाता है । इसी प्रकार जो जयपुर नाम का पदार्थ है, उसे भी हम एक कालावच्छेदेन सारे के सारे को नहीं पकड़ सकते । न अर्थ ही हमारी पकड़ में आता है, न शब्द ही आता है तो फिर उसका सम्बन्ध हम क्यों कर-कर सकते हैं ? अतएव मानना पड़ता है कि शब्दार्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक है । शास्त्र, वर्तमान का ज्ञान मात्र करवा देता है । इसको इस नाम से बोला करो—इतना सा काम शास्त्र का है । शास्त्र नया पैदा नहीं करता, एवं न नया सम्बन्ध ही करता है । सम्बन्ध पहले से सबका सब के साथ हो रहा है । शास्त्र, व्यवहार के लिए केवल मर्यादा कायम (निर्धारित) कर देता है । यदि घोड़े को हम प्रारम्भ से ही मनुष्य कहने लगते, तो कह सकते थे । इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती थी । सब (पदार्थों) के सब (शब्द) नाम हो सकते थे, परन्तु इससे व्यवहार में गड़बड़ आती । अतएव शास्त्र ने केवल मर्यादा मात्र बाँध दी है । 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक है—उत्पत्तिशिष्ट है,

उत्पन्नशिष्ट नहीं है'—इस बात को हम कैसे समझें ? इसका उत्तर देते हुए जैमिनि कहते हैं—“अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेस्तत् प्रमाणम्” । शब्द के साथ ही अर्थ आ कूदता है । यही इसमें प्रमाण है । शब्द, बिना अर्थ के कभी रहता ही नहीं—यही शब्दार्थ के औत्पत्तिक सम्बन्ध में दृढ़ प्रमाण है । राम, कृष्ण, परशुराम, हनुमान्, विभीषण, रावण—इत्यादि महापुरुषों का कहीं आज पता भी नहीं है, परन्तु इन शब्दों के सुनते ही आँखों के सामने इन सब का फोटो खिंच जाता है । शब्द के साथ रूप आ कूदता है । शब्द, बिना अर्थ के रह ही नहीं सकता । नाम का अर्थ के साथ अव्यतिरेक है । अतएव इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि सारे विश्व में—‘नाम-रूप’ के अलावा और कुछ नहीं दीखता । अतएव नाम-रूप दोनों ज्योति हैं, दोनों ही सत्य हैं एवं नाम-रूप दोनों अव्यभिचरित हैं । न तो नाम बिना रूप के, न रूप ही बिना नाम के—रहता है । इन दोनों सत्यों से आत्मा छुपा हुआ (आवृत) है । इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

‘स्मर्यते चेदं जैमिनीय मीमांसा-सूत्रे—“औत्पत्तिकस्तु शब्दस्या-
र्थेन सम्बन्धः । तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेस्तत्प्रमाणं
बादरायणस्य ।” इति ।

पूर्व के अक्षरों से सिद्ध होता है कि नाम-रूप ही विश्व का स्वरूप है । नाम-रूप के अलावा और कुछ भी प्रतीत नहीं होता । ये नाम-रूप दोनों ही सत्य हैं । इन सत्यों से यह अमृतप्राण ढका हुआ है । इस विषय में हमारी थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है । नाम-रूप को ज्योति मानने के लिए हम अवश्य ही तय्यार हैं । नाम-रूप अवश्य ही ज्योति हैं क्यों कि संसार में इनके अलावा और कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता है । जिधर देखो उधर नाम-रूप ही चमक रहे हैं । सारा विश्व इन्हीं के आधार पर अवलम्बित है । यदि नाम-रूप न रहे तो विश्व—विश्व ही न रहे । विश्व भी तो नाम ही है । जब नाम ही नहीं हो तो फिर विश्व रहेगा क्या ? अतएव विश्व में नाम-रूप ही व्याप्त हो रहे हैं । इन्हीं दोनों से विश्व का स्वरूप बन रहा है—यह बात भी हम मानने के लिए तय्यार हैं । परन्तु नाम-रूप सत्य कभी नहीं हो सकते । नाम-

रूप सर्वथा मिथ्या हैं । नाम-रूप को सत्य बतलाना—वेदान्त शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है, अतएव नाम-रूप सत्य नहीं कहला सकते—

‘अस्ति भाति प्रियं नाम-रूपमित्येषु पञ्चसु ।
त्रयं ब्रह्मादितः सत्यमनृते द्वे तु मायिके” ॥

यह कहते हुए शंकराचार्य नाम और रूप को मिथ्या बतलाते हैं । शङ्कराचार्य का कहना है—‘अस्ति-भाति-प्रिय-नाम-और रूप-सारा-विश्व इन पाँच भागों में विभक्त है । इन पाँचों में अस्ति, भाति, प्रिय-अर्थात् सत्ता चेतना, आनन्द-ये तीन तो ब्रह्म-साक्षी हैं तथा नाम और रूप माया-साक्षी हैं । सच्चिदानन्द ब्रह्म-सच्चा तथा नाम-रूप दोनों मिथ्या हैं । नाम-रूप विनाशी पदार्थ हैं । नाम आज है, कल नहीं । रूप कल था, आज नहीं । जो विनाशी पदार्थ है उसे नित्य कैसे कहा जा सकता है ? अतएव रात-दिन अनवरत बदलने वाले इन नाम-रूपों को हम कभी भी सत्य नहीं मान सकते । सच्चा केवल ब्रह्म है, जगत् सर्वथा-सर्वथा मिथ्या है । रज्जु में जैसे सर्प की भ्रान्ति होती है तथैव जगत् की भ्रान्ति हो रही है । वास्तव में सर्पवत् जगत् सर्वथा मिथ्या है । जगत् असत् है, ब्रह्म सत् है । सत् ब्रह्म में जो असत् जगत् भासित हो रहा है वह केवल भ्रान्ति मात्र है । ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप है, विषयी है, जगत् तमोमय है, विषय है । तमःप्रकाश-स्वरूप परस्परात्यन्त विरुद्ध—इन विषयी-विषय का अर्थात् ब्रह्म और जगत् का सहावस्थान बन ही नहीं सकता है । ब्रह्म प्रकाश है, जगत् अन्धकार है । प्रकाश की सत्ता में अन्धकार रह ही नहीं सकता । परन्तु अन्धकार-स्वरूप जगत् की ब्रह्म में अर्थात् ज्ञान में प्रतीति अवश्य हो रही है । अतएव हम कह सकते हैं कि यह प्रतीति सर्वथा मिथ्या है । रज्जु सर्प नहीं है, परन्तु भ्रान्त्या रज्जु में सर्प प्रतीत होने लगता है, वास्तव में सर्प बिल्कुल असत् है, सर्वथा मिथ्या है । ठीक इसी प्रकार अस्ति-भाति-प्रिय स्वरूप ब्रह्म में अर्थात् ज्ञान में जो विषय प्रतीत हो रहा है वह भ्रान्तिमात्र है । वास्तव में विषय-रूप जगत् सर्वथा मिथ्या है । नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है और अस्ति-भाति-प्रिय स्वरूप ब्रह्म सत्य है । इस प्रकार जब शङ्कराचार्य नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या बतला रहे हैं तो फिर

नाम-रूप को सत्य कैसे बतलाया जा सकता है ? अतएव आपका नाम-रूप को सत्य बतलाना शङ्कराचार्य के विरुद्ध है । शङ्कराचार्य वेदान्तानुयायी थे अतएव नाम-रूप को सत्य बतलाना वेदान्त-विरुद्ध है । इसी पूर्व-पक्ष का उद्धरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

“ननु अस्तु ज्योतिः किन्तु नैते नाम-रूपे सत्यं भवति ।
अस्ति भाति प्रियं नामरूपमित्येषु पञ्चसु” ।

“त्रयं ब्रह्मादितः सत्यमनृते द्वेतु-मायिके । इत्येवं गतिजानेन
शङ्करेण तयोरनृतत्वव्यवस्थापनात्” ।

कदाचित् कोई ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत करे तो सर्वथा गलत है । हम ऐसे पूर्वपक्ष को एकान्ततः सारशून्य कहने के लिए तय्यार हैं । नाम-रूप को मिथ्या हर्गिज नहीं बतलाया जा सकता । “तदिदममृतं सत्येनच्छन्नम् । प्राणोवाऽ-मृतम् । नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः” । इस श्रुति से स्पष्ट शब्दों में नाम-रूप के सत्य होने की प्रतिज्ञा की जाती है । जब कि श्रुति स्पष्ट शब्दों में नाम-रूप को सत्य बतला रही है तो फिर ऐसी अवस्था में नाम-रूप को मिथ्या बतलाना सिवाय प्रलाप के और क्या कहा जा सकता है ? नाम-रूप मिथ्या बतलाना एकान्ततः वेद-विरुद्ध है अतएव यह मत (शङ्करमत) सर्वथा त्याज्य है । अस्ति-भाति-प्रिय-नाम-रूप-इन पाँचों के अलावा और कोई छठी वस्तु है ही नहीं अतएव सारे विश्व को प्रपञ्च कहा जाता है । ‘पञ्चभिः प्रवर्तते’ अथवा “पञ्चभिः प्रस्तुतः” इस व्युत्पत्ति से इसे प्रपञ्च कहा जाता है । इस प्रपञ्च में से नाम-रूप को मिथ्या बतलाना और अस्ति-भाति-प्रिय को सत्य बतलाना सर्वथा वेद-विरुद्ध है । शंकराचार्य की सबसे बड़ी भारी दलील यही है कि यदि नाम-रूप को भी ब्रह्म ही मान लिया जायगा, सत्य ही मान लिया जायगा, तो “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” इस का विरोध होगा । सजातीय-विजातीय और स्वगत भेदेन भेद तीन प्रकार के होते हैं । वृक्षों का वृक्षों के साथ जो भेद है, वह सजातीय भेद है । आम के वृक्ष के साथ नींबू के वृक्ष का जो भेद है, वह विजातीय भेद है एवं एक ही वृक्ष में टहनी अलग है, पत्ते अलग हैं, शाखा अलग है—यह भेद स्वगत-भेद कहलाता है । इन तीनों भेदों की व्यावृत्ति के लिए ‘एकम्-एव-

अद्वितीयम्' ये तीन पद दिये जाते हैं। ब्रह्म-सजातीयभेद-शून्य है। ब्रह्म के जैसा कोई दूसरा ब्रह्म होता, तब न इसमें सजातीय भेद होता, एवं ब्रह्म से विजातीय भी कोई नहीं है, अतएव विजातीय भेद भी नहीं हो सकता। एवं ब्रह्म में वृक्ष-शाखावत् खण्ड भी नहीं है, वह सर्वथा अखण्ड है, अतएव स्वगत-भेद भी नहीं हो सकता। बस, इन सारे भेदों के अभाव बतलाने के लिए ही 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—यह कहा जाता है। ऐसी अवस्था में यदि नाम-रूप जगत् को भी सत्य मान लिया जायगा तो श्रुतिविरोध होगा। नाम-रूप को थोड़ी देर के लिए उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ मान भी लिया जाएगा तो भी स्वगत-भेद तो बना ही रहेगा। जब कि 'नाम और रूप' उसके दो खण्ड हो जाएँगे तो उसे स्वगत-भेद शून्य बतलाना कैसे संगत होगा अतएव जगत् को सर्वथा मिथ्या मानना चाहिए।

यदि ब्रह्मवत् जगत् भी सत्य हो जाएगा तो "अद्वैत" भाव का विरोध होगा। बस, नाम-रूपात्मक जगत् को मिथ्या बतलाने में शङ्कराचार्य की प्रबल युक्ति यही है। परन्तु हम कह सकते हैं कि वैदिक विज्ञान के अभाव के कारण शङ्कराचार्य इस अंश में बड़ी भारी भूल कर गए। श्रुति जिन्हें सत्य बतला रही है, उन्हें मिथ्या बतला कर शङ्कराचार्य ने वेद पर कुठाराघात किया है—यह कहते हुए हमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता। "द्वैत" हो जायगा—यह प्रश्न उसी क्षण हल हो जाता, यदि सूक्ष्म दृष्टि से श्रुति पर विचार कर लिया जाता। द्वैतभाव सत्ताभेद पर निर्भर है, वस्तुभेद पर नहीं। चीजें यदि हजार हैं, परन्तु उन सब की यदि, सत्ता एक है तो 'द्वैत' व्यवहार नहीं हो सकता। पगड़ी में, वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर, सूत-रुई-कपड़ा-कपास-मिट्टी इत्यादि अनन्त पदार्थ हैं परन्तु इससे पगड़ी नाना नहीं हो जाती। पगड़ी एक ही है—इस का एकमात्र कारण सत्तैक्य है। सत्ता इन सब वस्तुओं की एक ही है। उत्तरोत्तर की वस्तु पूर्व-पूर्व की सत्ता से सत् हो रही है। मिट्टी की सत्ता ले कर घड़ा सत् बन रहा है। यदि मिट्टी को नष्ट कर दो तो घड़ा उसी समय नष्ट हो जाए। क्यों कि सत्ता एक है, अतएव अनन्त वस्तुओं के होने पर भी नानात्व नहीं होता—अद्वैत भाव का विरोध नहीं होता। एवमेव—नामरूपात्मक जगत्-ब्रह्मसत्ता से सत् है। उसकी

पृथक् सत्ता नहीं है। पृथक् सत्ता होती तो अवश्य अद्वैत भाव का विरोध हो सकता था। परन्तु चूँकि सत्ता एक है अतएव अद्वैत भाव का विरोध नहीं होता। यदि सत्तैक्य होने पर भी द्वैत-भाव माना जाता है तो फिर यह आपत्ति तो शङ्कर-मत में भी है। अस्ति-भाति-प्रिय-ये तीन अवयव तो वे भी मानते हैं। फिर तो द्वैत-भाव उनके मत में भी रह गया। अतएव हम कह सकते हैं कि स्वगतभेद दोष दे कर जगत् को मिथ्या हर्गिज-हर्गिज नहीं बतलाया जा सकता। इसी अभिप्राय से पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—“इति चेतात्मकमिति ब्रूमः। ‘नामरूपेसत्यम्—इति स्पष्टतयोः सत्यत्वप्रतिज्ञानात्”।

अपिच एक ही श्रुति नहीं—सैंकड़ों श्रुतियाँ नामरूप को सत्य बतलाती हैं। तैत्तिरीय श्रुति कहती है—भगवान् प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की। प्रजापति शब्द की विस्तृत व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती। फिर भी इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि सारा ब्रह्माण्ड—स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी—इन पाँच मण्डलों में विभक्त है। इन पाँचों में स्वयम्भू का नाम ही प्रजापति है। यह प्रजापति सत्यप्रजापति नाम से भी व्यवहृत होता है। यही सत्य-प्रजापति—इच्छा—तप और श्रम के कारण प्राण-अप-वाक्-अन्नाद-अन्न इन पाँच यज्ञ-क्षरों को उत्पन्न कर यज्ञप्रजापति कहलाने लगता है। सत्य प्रजापति ही यज्ञ-प्रजापति बन जाता है। सत्यप्रजापति का नाम अनिरुक्त प्रजापति है और यज्ञप्रजापति का नाम सर्वप्रजापति है। सत्यप्रजापति को “क” शब्द से व्यवहृत करते हैं। इसीलिए-अपांपरायण कर्म में “कस्त्वा युनक्ति” इत्यादि बोला जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—“स प्रणयति-कस्त्वा युनक्ति सत्त्वा युनक्ति कस्मैत्त्वा युनक्ति तस्मैत्त्वा युनक्ति”—एताभिरनिरुक्ताभिव्यक्तिभिः। अनिरुक्तो वै प्रजापतिः। ‘प्रजापतिर्यज्ञः। तत् प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं युनक्ति॥”—अनिरुक्त प्रजापति पदार्थों के केन्द्र में रहता है और सर्वप्रजापति-पदार्थ पर व्याप्त रहता है। प्रजापतिश्चरति गर्भे’ इत्यादि, श्रुति, अनिरुक्त प्रजापति का स्वरूप बतलाती है। अस्तु, प्रकृत में हमें कहना यही है कि पाँचों मण्डलों में से—जो स्वयम्भू-मण्डल का अधिष्ठाता प्राणप्रजापति है, वही प्रकृत में प्रजापति—शब्द से अभिप्रेत है। उसी प्रजापति से परमेष्ठी आदि आगे की

सृष्टियाँ होती हैं । इस प्रजापति ने इस प्रजा को उत्पन्न किया—
 “प्रजापतिः प्रजा असृजत्” । आगे जा कर श्रुति कहती है कि वह उत्पन्न
 प्रजा एक से एक श्लिष्ट होकर घिलमिल हो गई । वास्तव में बात सच
 है—नामरूप ही से तो छाँट होती है । यदि नामरूप नहीं है तो कौन देवता है,
 कौन पितर है, कौन मनुष्य है—यह पहचानना ही कठिन है । नामरूप से
 ही वस्तु-भेद होता है, प्रजा का स्वरूप बनता है । क्यों कि-नामरूप थे नहीं,
 अतएव उत्पन्न प्रजा घिलमिल हो गई ।

‘ताः श्लिष्टाः समश्लिष्यन्’—जब प्रजा घिलमिल हो गई तो प्रजापति
 उन्हें विभक्त करने के लिए उनमें रूप-स्वरूप बना कर प्रविष्ट हो गया ।
 क्यों कि प्रजापति रूप-स्वरूप में परिणत हो कर इन प्रजाओं में घुसा था, अत-
 एव ‘रूपं वै प्रजापतिः’—यह कहा जाता है । एवमेव नाम-स्वरूप में परिणत
 हो कर प्रजापति इनमें प्रविष्ट हो गए अतएव—“नाम वै प्रजापतिः” यह कहा
 जाता है—

“ता रूपेणानुप्राविशत्-तस्मादाहु रूपं वै प्रजापतिरिति । ता
 नाम्नानुप्राविशत्-तस्मादाहुः नाम वै प्रजापतिरिति ।

(तै० ब्रा० २।२।७।१)

इस श्रुति से नाम-रूप को भी ब्रह्म बतलाया जाता है—न कि
 आपकी तरह से मायिक । नाम और रूप दोनों प्रजापति हैं । ब्रह्म ही नाम
 बना है, ब्रह्म ही रूप बना है । ऐसी अवस्था में नाम-रूप को मिथ्या बतलाना
 ब्रह्म को मिथ्या बतलाना है—

“एतेनैतयोर्नामरूपयोरपि ब्रह्मत्वमेवावस्थीयते । न तु मायि-
 कत्वम्” ।

कृष्ण यजुर्वेद का प्रमाण बतला दिया गया, यदि इतने पर भी आपका
 सन्तोष नहीं होता तो शुक्ल-यजुर्वेद का भी प्रमाण लीजिए—वाजसनेय श्रुति
 कहती है—सृष्टि के पहले अकेला ब्रह्म ही था, अर्थात् सिवाय प्रजापति के और
 कुछ न था । प्रजा अभी उत्पन्न नहीं हुई थी । सृष्टि के प्रारम्भ की अवस्था

श्रुति द्वारा बतलाई जा रही है, अतएव प्रजापति न कह कर 'ब्रह्म' शब्द का उपयोग किया गया है। यह ब्रह्म वही स्वयम्भू भगवान् हैं। इन्होंने देवताओं को उत्पन्न किया। देवताओं को उत्पन्न कर पृथिवी-अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीन लोकों में इनको स्थित कर दिया। इस पृथिवीलोक में अग्नि को प्रतिष्ठित किया, अन्तरिक्ष में वायु देवता को प्रतिष्ठित किया एवं द्यूलोक में सूर्य को प्रतिष्ठित किया।

अग्नि को प्रतिष्ठित किया, इससे(आठ) वसुओं का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। एवमेव वायु से वायु-सम्बद्ध ११ रुद्रों का और सूर्य से सूर्य-सम्बद्ध १२ (बारह) आदित्यों का ग्रहण समझना चाहिए। हमने यहाँ तक स्वयम्भू-परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी से सूर्य तक का हिसाब बतला दिया। पृथिवी से सूर्य तक—रोदसी त्रिलोकी में—अग्नि, वायु, आदित्य-इन आग्नेय देवताओं का शासन है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठिमण्डल है। परमेष्ठिमण्डल में सौम्य देवता रहते हैं। पितर, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, सविता इत्यादि देवता सूर्य से ऊपर लोकों में रहते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि सूर्य से ऊपर के जो लोक हैं एवं देवता हैं उन ऊर्ध्व देवताओं को उन ऊर्ध्व लोकों में प्रतिष्ठित किया गया। अग्नि-वायु-आदित्य इन तीनों देवताओं का तो प्रत्यक्ष होता है एवं तीनों लोकों का भी प्रत्यक्ष होता है परन्तु सूर्य से ऊपर के जो लोक और देवता हैं उनका जरा भी भान नहीं होता। ऐसी अवस्था में हम कैसे मान सकते हैं कि वहाँ भी देवता और लोक होंगे। इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि जिस प्रकार ये लोक और देवता हमारे प्रत्यक्ष के विषय बन रहे हैं तथैव वहाँ रहने वालों के लिए वे ऊर्ध्व लोक और देवता भी प्रत्यक्ष के विषय हैं। वे लोक और देवता हमें नहीं दीखते-इस का एकमात्र कारण दूरी है। वे लोक हम से अत्यन्त दूर हैं, अतएव हमें उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता-अतएव-वे हैं ही नहीं-यह नहीं माना जा सकता। इस प्रकार रोदसी और क्रन्दसी, को बना कर-उनमें देवता प्रतिष्ठित कर ब्रह्म परार्द्ध में चला गया, अर्थात् दोनों सृष्टियों को उत्पन्न कर आप स्वयम्भू में जा कर प्रतिष्ठित हो गया। वहाँ जाकर उसने विचार किया कि ऐसा कौन सा उपाय करना चाहिए जिससे मैं इन लोकों में घुला रहूँ। मैं भी इन लोकों में शामिल रहूँ। मेरे बिना कोई रह ही न सके। यह विचार कर ब्रह्म-नाम

शब्द का
ने देवताओं
इन् तीन
प्रतिष्ठित
सूर्य को
कर लेना
सूर्य-सम्बद्ध
यहाँ तक
दिया ।
न आग्नेय
पष्ठिमण्डल
इत्यादि
कहते हैं कि
उन ऊर्ध्व
ताओं का
सूर्य से
। ऐसी
। इसका
र देवता
वे ऊर्ध्व
दीखते-
एव हमें
सकता ।
ठित कर
स्वयम्भू
सा कौन
न लोकों
ह्य-नाम

और रूप से सारे लोकों में घुस पड़ा, नाम-रूप से सारे विश्व में व्याप्त हो गया । 'नाम क्या है और रूप क्या है ?' इसकी पहचान बतलाती हुई श्रुति कहती है—जिसका जो नाम देखते हो, वही तो नाम है, एवं जिसका नाम नहीं है अथवा नाम विदित नहीं है, उसमें जो रूप द्वारा—“इदं रूपम्” यह ज्ञान होता है, वही रूप है । नाम से अलग रूप है, इसीलिए “यस्योऽपि” इत्यादि कहा गया है । आगे जा कर श्रुति कहती है कि सारे ब्रह्माण्ड में नाम और रूप ही है, यही सब कुछ है । ये दोनों ब्रह्म की बड़ी भारी बलान्न हैं, दोनों ही बड़े भारी हाभू हैं । संसार में जहाँ वस्तु उत्पन्न हुई नहीं कि इस हाभू (नाम-रूप) ने उसे गिरफ्त में लिया नहीं । इन नाम और रूपों में श्रेष्ठ रूप ही है, आकार का नाम ही रूप है । एवं क-च-ट-त-प यही नाम है । एवं यह रूप ही है । नाम भी तो एक आकार ही है । इस श्रुति से स्पष्ट ही नाम-रूप की सत्यता सिद्ध हो जाती है । नाम-रूप ब्रह्म का स्वरूप है—भला उसको मिथ्या बतलाना-क्या श्रुति से विरोध नहीं है ? नाम-स्वरूप बना कर ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । ऐसी अवस्था में नाम-रूप को मिथ्या बतलाना 'ब्रह्म' को मिथ्या बतलाना है । इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

अथ वाजसनेय श्रुतावप्येवं श्रूयते—

ब्रह्म वा इदमग्र एक आसीत् । तद्देवान्सृजत । तद्देवान् सृष्ट्वा एषुलोकेषु व्यारोहयत् । अस्मिन्नेव लोकेऽग्निम् । वायुमन्तरिक्षे दिव्येव सूर्यम् । अतयेऽत ऊर्ध्वा लोकास्तद्या-अतऊर्ध्वा देवास्तेषु । वाता देवता व्यारोहयत् । स यथा है वेमे आबिलोका इमाश्च देवताः— एवमुद्देवत आबिलोकाः ताश्च देवता येषु ता देवता व्यारोहयत् । अथ ब्रह्म व पराद्धं मगच्छत् । तत् पराद्धं गत्वैक्षत-कथंचिमान् लोकान् प्रत्य वे याम् इति । तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत्-रूपेण चैव नाम्ना च । स यस्य कस्य च नामास्तिः तन्नाम । यस्योऽपि नाम नास्ति । यद्वेदरूपेण—“इदं रूप-मिति-तद्रूपम् । एतावद् वा इदं यावत्-रूपं च नामं च । ते हैते ब्रह्मणो महतो अभवे, महतो यज्ञे । तयोरन्यतर ज्यायो रूपमेव तत्—इति ।”

(वाज० ११।१।११।१)

नाम-रूप सत्य है, मिथ्यात्व का अपनी ओर से प्रतिपादन कर दिया है, वस्तुतः पूर्व के प्रकरण से नाम-रूप की सत्यता सिद्ध होती है। भाष्यकार अपनी ओर से अब नाम जगत्-मिथ्यात्व का पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उसका समाधान करते हैं। वादी पूर्वपक्ष रखता है—‘यदि नाम-रूप सत्य है तो जगत् का भी सत्यभावयुक्त होना सिद्ध होता है, क्योंकि नाम-रूप-कर्म से जगत् का सर्वथा अनतिरेक है। नाम-रूप-कर्म की समष्टि का नाम ही तो जगत् है। ऐसी अवस्था में नामरूपसत्यत्वात् जगत् को भी सत्य मानना पड़ेगा, परन्तु यहाँ अभीष्ट है—जगत् का मिथ्यात्व, क्यों कि वेदान्त से ऐसा ही निर्णय किया गया है। शारीरक-सूत्र और उपनिषत्—ये दो ही वेदान्त का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों के भाष्यकार हैं—शङ्कराचार्य। शङ्कराचार्य ने अपने वेदान्त-भाष्य में यही निर्णय किया है कि अस्ति-भाति-प्रिय-नाम-रूप इस प्रपञ्च में से अस्ति-भाति-प्रिय-स्वरूप ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म तो सच्चा है और नाम-रूप दोनों माया हैं, मिथ्या हैं। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। ऐसी अवस्था में जब कि वेदान्त-भाष्य जगत् को मिथ्या बतलाता है तो आपका नाम-रूप को सत्य बतलाना क्यों कर उचित हो सकता है? नाम-रूप को सत्य बतलाना जगत् को सत्य बतलाना है एवं जगत् को सत्य बतलाना वेदान्त-शास्त्र से विरोध करना है।

“ननु-यदि नामरूपे सत्यं तर्हि जगतोऽपि सत्यत्वं प्राप्नोति जगतो नाम-रूप कर्मानतिरिक्तत्वात्। इष्यते तु जगतो मिथ्यात्वम्। वेदान्ते तथैव निर्णीतत्वात्”। भाष्यकार इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वेदान्त-शास्त्र की दुहाई दे कर जो आप नाम-रूप के सत्यत्व पर आक्षेप करना चाहते हैं—यह आक्षेप ही झूठा है। जगत् का मिथ्यात्व हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। वेदान्त में जगत् को मिथ्या बतलाया है—यही तो आपके पूर्वपक्ष का प्राण है। हम कहते हैं—‘यह पूर्वपक्ष ही गलत है। वेद और वेदान्त में—कहीं भी जगत् को मिथ्या बतलाने वाला एक भी वचन उपलब्ध नहीं होता जिससे कि आपके मत की पुष्टि होती हो। वेद अथवा वेदान्त में कहीं एक भी वाक्य जगत् को मिथ्या बतलाने वाला मिल जाता तो हम सादर—आपके जगन्मिथ्यावाद के अनुयायी बन सकते थे, परन्तु नहीं मिलता। यदि मिलता

है तो आपके विपरीत—अर्थात् सत्य का प्रतिपादन करने वाले । जब वेद किंवा वेदान्त में कहीं भी किसी एक भी वाक्य से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता तो फिर जगन्मिथ्यात्ववाद को हम क्यों कर प्रामाणिक मान सकते हैं ?

“न खलु जगतो मिथ्यात्वं प्रामाणिकं मन्यामहे । वेदे वेदान्तेषु कुत्राप्यस्य जगतो मिथ्यात्वं प्रतिपादक वचनानुपलब्धेः” । इति ।

वादी पूर्वपक्ष कहता है कि “वाह साहब ! खूब कही कि वेद अथवा वेदान्त में एक भी ऐसा वाक्य नहीं है जिससे कि जगत्—मिथ्यात्व सिद्ध होता हो” । यह घुड़की बता कर आपने खूब चक्कर में डाला । मानों आप ही ने वेद और वेदान्त देखा हो । “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” इत्यादि अनेक वाक्य उपनिषदों में ऐसे भरे पड़े हैं जिनसे जगन्मिथ्यात्व स्पष्टतया सिद्ध होता है । श्रुति—घट—भाल—मटकी—मांगा—सराई इत्यादि अनन्त मृत्तिका—निर्मित पात्रों पर ध्यान दिलवा कर कहती है कि ये सारे पदार्थ वस्तुतः वाक् का आरम्भण मात्र है । आरम्भण उत्पत्ति को कहते हैं । श्रुति कहती है कि घट—मठ—पट इत्यादि वाक् का आरम्भण है अर्थात् शब्दमात्र की उत्पत्ति है न कि अर्थ की । घड़ा कहने से घड़ा एक नई चीज बन गया, यह बात नहीं है । केवल ‘घड़ा’ इस नाममात्र की उत्पत्ति हुई है । घड़ा—यह मिट्टी का विकार है—यह घड़ा है—यह कहना—नामधेय मात्र है अर्थात् शब्दमात्र है । घड़ा कहने से नई चीज उत्पन्न हो गई—यह बात सर्वथा गलत है । घड़ा नहीं बना तब भी मिट्टी ही थी, घड़ बन गया, तब भी मिट्टी ही है । मृत्तिका की अवस्था—विशेष का नाम घड़ा रख कर तुमने जो एक नई वस्तु मान ली है—यह तुम्हारी बदमाशी है । वस्तुतः मिट्टी है—यही सत्य है । घट—पट—मठ ये सारे भाव मिथ्या हैं । सच्ची केवल मिट्टी ही है । मिट्टी से तो तुम्हें समझाया गया है, वास्तव में सच्चा तो पानी है । पानी भी सच्चा नहीं, सच्चा तो तेज है । तेज भी सच्चा नहीं, सच्चा तो वायु है । अरे ! इन छोड़ो सारे प्रपञ्चों को, सच्चा तो केवल ब्रह्म है, बाकी का सारा जगत् मिथ्या है । ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—यही हमारा अटल सिद्धान्त

है । यह सारा विश्व, वाक् का आरम्भण मात्र है, वस्तुतः ब्रह्म ही सच्चा है—जगत् मिथ्या है ।

“ननु वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इत्येवमादीनि सन्त्येव तथा वचनानीति”—भाष्यकार कहते हैं, नहीं ऐसा हर्गिज नहीं कह सकते । यदि ऐसे-ऐसे वाक्यों का आपने यही अर्थ समझा है तो हमारे हिसाब से आपने और भी धोखा खाया है । यदि जगत् के कार्य-कारण भावों को पहचान लिया जाता तो कभी, श्रुति के, ऐसे अण्ड-वण्ड अर्थ न किये जाते । आपने समझ रक्खा होगा कि कार्यकारण भाव एक ही तरह का होता होगा, परन्तु हम कहते हैं कि यदि ऐसा है तो आप भूल करते हैं । कार्यकारण भाव एक नहीं है, तेरह (१३) हैं । सारा विश्व-प्रपञ्च तेरह कार्यकारण भावों में बँटा हुआ है । उन तेरहों का विस्तृत विवेचन प्रकृत में नहीं किया जा सकता । केवल एक-दो का स्वरूप बतला कर प्रकृत का अनुसरण करते हैं । एक कार्यकारण भाव तो ऐसा होता है, जिसमें अविनाशूत सम्बन्ध रहता है । कारण के विनाश से उसी समय कार्य का नाश हो जाता है । उदाहरणार्थ—दूध और मलाई, सूत और वस्त्र, सुवर्ण और कटक-कुण्डलादि । दूध से मलाई बनी है, दूध को नष्ट कर दीजिए, अभी मलाई नष्ट हो जाएगी । सूत को नेस्तनावूद कर दीजिए, अभी वस्त्र का पता भी नहीं लगेगा । सुवर्ण को नष्ट कर दीजिए, सारे आभूषण अपने आप नष्ट हो जाएँगे । एक उपादान कार्यकारण भाव ऐसा है जिसमें कार्य-कारण दोनों स्वतन्त्र रहते हैं । उदाहरणार्थ—पिता-पुत्र । पिता-पुत्र का उपादान कारण है परन्तु दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं । पिता मर जाए तो पुत्र का कुछ नहीं बिगड़ता, पुत्र मर जाय तो पिता का कुछ नहीं बिगड़ता है । न कार्य के नाश से कारण का नाश है और न कारण के नाश से कार्य का नाश है । तीसरा है—निमित्त कार्यकारण भाव । जैसे—घट और दण्ड । दण्ड निमित्त कारण है, इसके विनाश से भी घड़े का कुछ नहीं बिगड़ता । चौथा है—आधाराधेयस्वरूप कार्यकारण भाव । पुस्तक आधेय है और टेबिल आधार है । यहाँ भी कार्यकारण दोनों स्वतन्त्र हैं । इस प्रकार से कुल तेरह प्रकार के कार्यकारणभाव हैं । ब्रह्म जगत् का कारण है । प्रजापति ही से प्रजा उत्पन्न होती

मन्त्रा है—

इत्येवमा-

गज नहीं

हो हमारे

ए भावों

न किये

तरह का

ते हैं।

च तेरह

त प्रकृत

त का

प्रविना-

श हो

कटक-

मलाई

ता भी

ष्ट हो

दोनों

कारण

नहीं

नाश

सारा

कारण

राधे-

यहाँ

पर्य-

तो

हैं। 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' यह कहा जाता है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु-
प्राविशत्' यह अटल नियम है। इसमें सन्देह होता है कि इन तेरह कार्य-
कारणभावों में से ब्रह्म और जगत् का कार्यकारणभाव कैसा है? बस, ब्रह्म
और जगत् का कार्यकारणभाव—भिन्नसत्ताक न समझ लिया जाए—पिता—पुत्र-
वत्, घट—दण्डवत्, ब्रह्म और जगत् का कार्यकारण भाव न समझा जाने लगे
इस बात को बतलाती हुई श्रुति कहती है—“वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
मृत्तिकेत्येव सत्यम्”। श्रुति कहती है कि जैसे—घट—मृत्तिका का—एकसत्ताक
कार्यकारण भाव है वैसे ही ब्रह्म और जगत् का भी कार्यकारण भाव अभि-
न्नसत्ताक ही है। ये सारे कार्यकारण—ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं। 'ब्रह्म की
सत्ता ही इन की सत्ता है' यह बतलाने वाली श्रुति का जगत्—मिथ्यात्व—
प्रतिपादक अर्थ लगाना सर्वथा अनुचित है। जगत् और ब्रह्म का अभिन्न सम्ब-
न्ध है। घट—मृत्तिकावत्—जगत् और ब्रह्म का अभिन्नसत्ताक कार्यकारण
भाव है—यही 'वाचा....' इस श्रुति का तात्पर्य है। श्रुति सम्बन्ध—मात्र बत-
लाती है न कि जगन्मिथ्यात्व। ऐसी अवस्था में ऐसे—ऐसे वाक्यों से जगत् को
मिथ्या बतलाना—कहाँ तक उचित है? इसके निर्णय का भार हम उन शङ्कर
पादों पर ही छोड़ते हैं। यही बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—“इति चेन्न-यत्र
तत्रेह जगति गतीतानां त्रयोदशविधानां कार्यकारणभावानामन्यतमे यत्र सम-
वायेन कार्योत्पत्तिस्तत्रैतेषां कार्यणां कारणानतिरिक्तत्वं प्रतिपादयन्त्या
अस्याः श्रुत्याजगन्मिथ्यात्व प्रतिपादने तात्पर्यानिवसायात्।”

शंकराचार्य कहते हैं—जगत् मिथ्या है, स्वप्नवत् है। यथा सपने में,
आप ही हाथी, घोड़ा, फौज, सेनापति, राजा, शहर, ग्राम, वन, उपवन—सब
कुछ बन जाता है परन्तु वास्तव में सब मिथ्या है तथैव यह सारा विश्व भी
स्वप्नवत् मिथ्या ही है। इस प्रकार से 'स्वप्नवत् यह जगत् मिथ्या है' यह
शंकराचार्य का अपना प्रातिस्विक मिथ्या विश्वास है, न कि वेदान्त का यह
मत है। वेदान्त कभी जगत् को मिथ्या नहीं मानता है। उपनिषत्—शारीरक-
सूत्र—भगवद्गीता—ये तीन ही वेदान्त के ग्रन्थ हैं। इन तीनों की समष्टि ही-
प्रस्थान-त्रयी कहलाती है। इन तीनों में जिस वाक्य से जगन्मिथ्यात्व की

पुष्टि होती हो ऐसा एक भी वाक्य कहीं नहीं है। फिर, 'जगन्मिथ्या है'—यह मत वेदान्त का कैसे बतलाया जा सकता है ?

“स्वाप्नान्तिकैवदिदं जगन्मिथ्येति शङ्करस्य विश्वासो न पुनर्वेदान्तस्य तथा मतं संभावयामः । उपनिषत्सु, शारीरकसूत्रे, भगवद्गीतायां वा तादृश-मतोपलब्धक वचनानामेकत्रोप्यपनुपलब्धत्वात् ।—

क्या कहें—क्या न कहें ?—कारण इसका एकमात्र अन्धविश्वास करने वालों का सहवास है। जरा मुँह खोलते ही नास्तिक की उपाधि तय्यार रहती है, जब कि उपाधिप्रदाता वास्तव में व्याज से धर्माचरण करने वाले हैं। परन्तु इससे क्या—हम सहर्ष उनकी उपाधि ग्रहण करने के लिए तय्यार हैं। केवल उपाधि से डर कर हम सत्य बात न कहें—यह नहीं हो सकता। 'शत्रोरपि गुणाः वाच्याः दोषाः वाच्याः गुरोरपि' जब हमारा सनातनधर्म ऐसे-ऐसे वाक्यों से सत्य कहलवाने के लिए प्रेरित करता है तो फिर क्यों न हम सच्ची परिस्थिति बतलाएँ ? शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त किया, वैदिकधर्म का पुनरुद्धार किया—यह सब कुछ किया। परन्तु इतना हम कहे बिना नहीं रह सकते कि उन्होंने जगत् को मिथ्या बतला कर क्रियात्मक धर्म का सर्वनाश कर डाला। 'कर्म—प्रपञ्च मिथ्या है'—यह उपदेश दे कर उन्होंने भारतवर्ष को आलसी बना डाला। जो वेद—

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वाय नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥”

(ईशा० उप० १/२)

इस प्रकार कर्म-पालन का उपदेश दे रहा है, जो श्रुति 'अजितं जेतु-मनुचिन्तयेत्—न क्वचिदप्यलं बुद्धिमादध्यात्' ऐसे-ऐसे स्पष्ट शब्दों में—कर्म-पालन करने का घण्टा-घोष कर रही है, ऐसे वेद-शास्त्र से 'जगत् मिथ्या है' यह सिद्ध करना शङ्कराचार्य का केवल साहस मात्र है। वेद में, वेदान्त में—किसी भी वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। अपितु वहाँ तो उलटा जगत् को सत्य बतलाया जाता है। जिस नाम-रूप के लिए शङ्कराचार्य 'अनृतेद्वेतु मायिके' कहते हैं, उसी नाम-

रूप के लिए श्रुति कहती है—“नामरूपे सत्यम् । प्राणो वा अमृतम् । तदिद-
ममृतं सत्येनाच्छन्नम्” अतएव कहना पड़ता है कि ‘जगत् मिथ्या है’ यह शङ्करा-
चार्य का अपना मत है न कि वेद का । ‘वेद जगत्-मिथ्यावाद का समर्थक
है’ यह वेद पर कलङ्क लगाना है ।

इतना ही नहीं, हम तो यह भी कहते नहीं हिचकते—“यह सारा जगत्
स्वप्नवत् है—केवल खयाली मजाक है, सत्य वस्तु नहीं है खयाली जगत् है इस
प्रकार स्वाप्नान्तिकवत् सारे जगत् को बुद्ध्या क्लृप्त मानने वाले शङ्कराचार्य
वेदविरुद्ध जगत् को मिथ्या मानते हुए प्रच्छन्न भाव से बौद्ध मत को ही स्वीकार
करते हैं । ‘जगत् मिथ्या है’ यह बौद्धों का सिद्धान्त है । यही शङ्कराचार्य का
मत है । ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही शङ्कराचार्य को ‘प्रच्छन्न बौद्ध’ कह
सकते हैं । दर्शन-शास्त्र ‘आस्तिक’ और ‘नास्तिक’ इन दो भागों में विभक्त है ।
संसार से अतिरिक्त कोई ईश्वर अवश्य ही है’ इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व
पर विश्वास कर जो शास्त्र फिलासफी-तत्त्व को बतलाता है, वह आस्तिक
दर्शन कहलाता है. एवं जो ईश्वर का अस्तित्व न मान कर विचार प्रकट
करता है वह नास्तिक-दर्शन कहलाता है । आस्तिक-दर्शन भी ६ (छः) हैं,
नास्तिक-दर्शन भी ६ (छः) हैं । न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त
६ आस्तिक दर्शन हैं । न्याय-दर्शन के कर्त्ता भगवान् गौतम है । सांख्यदर्शन-
प्रणेता भगवान् कपिल है । योग-दर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि है, वैशे-
षिक-दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद हैं । मीमांसा-शास्त्र-ज्ञान-कर्म-उपासना
इन तीन भागों में विभक्त है । सारा निगमशास्त्र-ज्ञान, कर्म, उपासना इन
तीन काण्डों में विभक्त है । तीनों के ऊपर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने मीमांसा की
है । वेद का जो कर्मकाण्ड है, उसकी मीमांसा भगवान् जैमिनि ने की है ।
इसी मीमांसा-शास्त्र का नाम—‘मीमांसा-दर्शन’ है एवं उपासना-काण्ड पर
शाण्डिल्य महर्षि ने मीमांसा की है, यह ग्रन्थ ‘शाण्डिल्य-संहिता’ नाम से
प्रसिद्ध है । ज्ञान-काण्ड की मीमांसा भगवान् व्यास ने की है । क्योंकि वेद का
अन्तिम भाग ज्ञान है, अतएव इसके मीमांसा-शास्त्र को ‘वेदान्त’-शास्त्र कहते
हैं । इस प्रकार भारतीय आस्तिक-दर्शन कुछ छः हैं, एवं नास्तिक दर्शन भी
छः ही हैं । वे छहों दर्शन-शास्त्र प्रणेता-चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार,

सौत्रान्तिक, वैभाषिक—इन नामों से प्रसिद्ध हैं, आर्हत नामों से प्रसिद्ध हैं। अर्हत् जैन-दर्शन के आचार्य्य हैं एवं मध्य के चारों ही बौद्ध हैं। बृहस्पति-चार्वाक मत के प्रवर्तक हैं। ये छहों ही चूँकि ईश्वर-सत्ता नहीं मानते अतएव इन्हें नास्तिक कहा जाता है। इन छहों में जो चार्वाक् हैं वे प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों में से केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। इनके मतानुसार जो वस्तु आँख से दीखती है, वही सच्ची है, बाकी सब मिथ्या है। आस्तिक संप्रदाय पर आक्षेप करते हुए बृहस्पति के मत का अनुकरण करने वाले नास्तिक शिरोमणि चार्वाक् कहते हैं—

“न स्वर्गो वा नापवर्गोवा नैवात्मा पारलौकिकः ।

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।

प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

पशुश्चेन्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमेगमिष्यति ।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।

गच्छातामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना ॥

यदि गच्छेत् परंलोकं देहादेष विनिर्गतः ।

कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेह समाकुलः ॥

इस युग के महर्षि स्वामी दयानन्दजी भी सनातनधर्म के श्राद्धादि-कर्मों पर इसी प्रकार के उद्गार व्यक्त करते हैं। इससे पाठक महाशय उनकी भी शास्त्र विषयक आस्था का निर्णय कर सकते हैं। चार्वाक मत का खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द अपने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखते हैं—

“पशु मार कर होम करना वेदादि सत्य-शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा और मृतकों का श्राद्ध-तर्पण करना कपोल-कल्पित है, क्यों कि यह वेदादि सत्यशास्त्रों

सिद्ध हैं।
वृहस्पति-
ते अतएव
नुमानादि
नुसार जो
क संप्र-
नास्तिक

के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराणमतवालों का मत है, इसलिए इस बात का खण्डन अखण्डनीय है" भला, वेदव्यास भगवान्-प्रणीत भागवत को मिथ्या बतलाना, क्या सनातन धर्म से असंगत अथवा विषम मत नहीं है? अवश्य है। अस्तु, प्रकृत में हमें कहना यही है कि नास्तिकों में पहला यही चार्वाक मत है। दूसरे चार मत बुद्धानुयायी हैं। वे प्रत्यक्षवत् अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। इन चारों का ही "क्षणिकं-क्षणिकं—दुःखं दुःखम्—स्वलक्षणं स्वलक्षणं—शून्यम्"—यह सिद्धान्त है। इनका कहना है कि प्रत्यक्षवत् अनुमान भी प्रमाण है। यदि अनुमान को प्रमाण न माना जाएगा तो संसार का व्यवहार ही बन्द हो जाएगा।

इस प्रकार चार्वाकों की अपेक्षा ये चारों अनुमान को और विशेष मानते हैं। यद्यपि शङ्कराचार्य इतर बौद्धों से कुछ विशेष मानते हैं, परन्तु इससे क्या हुआ? माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक ये चारों ही, चार्वाकों से कुछ विशेष मानते हैं, परन्तु इससे क्या वे आस्तिक हो गए? हर्गिज नहीं। एवमेव बौद्धों से जरा बहुत विशेष मानते हुए शङ्कराचार्य बौद्ध-दर्शन से बाहर नहीं जा सकते। यह सारा विश्व बुद्धिबल्लुप्त है अर्थात् खयाली पुलाव है। भातिसिद्ध वह कहलाता है जिसका भान हो परन्तु वस्तुतः वह पदार्थ न हो। अभाव की जो भाति है उसे ही भातिसिद्ध जगत् कहते हैं। सारा जगत् वस्तुतः कुछ नहीं है—सब शून्य ही शून्य है—यही बौद्धों का मत है। इस प्रकार विश्व को बौद्ध लोग भातिसिद्ध अर्थात् मिथ्या मानते हैं। इधर शङ्कराचार्य-आनन्द-सत्ता-विज्ञान-नाम रूप-कर्म इन छहों में से केवल सच्चिदानन्द को नित्य रहने-वाला बतलाते हैं और नाम-रूप-कर्ममय विश्व को मिथ्या बतलाते हैं। इस प्रकार बौद्ध और इनमें थोड़ी सी ही तो विशेषता है। कर्ममय विश्व सर्वथा शून्य है—मिथ्या है—यह बौद्ध मानते हैं और यही शङ्कराचार्य मानते हैं, अतएव दोनों ही इस अंश में समान हैं। अस्तु, अधिक न कह कर हम अन्त में यही कह देते हैं कि शङ्कराचार्य का मत चूंकि वेद-विरुद्ध है, अवैदिक है, अतएव सर्वथा निस्सार है—एकान्ततः त्याज्य है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

द्वादि-
उनकी
का

और
स्त्रों

“अथवा स्वाप्नान्तिकवदिदं सर्वं बुध्याक्लृप्तमभिमन्यमानः शङ्करो वेदविरुद्धं जगतो मिथ्यात्वं कल्पयत् प्रच्छन्नं बौद्ध-मतमेवाऽभ्युपैति । इतर बौद्धेभ्यो यत्किञ्चित् विशेष प्रतिपत्तावपि माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकानां बौद्धानामवान्तर विशेष प्रतिपत्तिवदस्यापि यथाकथञ्चित् विशेष प्रतिपत्तेरनति विशेषकत्वात् । बुद्धि क्लृप्तं हीदं विश्वं भातिसिद्धं न वस्तु सत्तासिद्धमिति हि बौद्धा आतिष्ठन्ते । अयं पुनः सच्चिदानन्दमेवैकं शाश्व-तिकं सन्तं मन्यमानो नामरूपकर्ममयं विश्वं बुध्याक्लृप्तं भातिसिद्धं न वस्तु सत्तासिद्धमित्यातिष्ठते । कर्ममयं विश्वं शून्यमिति बौद्धा आतिष्ठन्ते शङ्क-रश्चेतिसमम् तस्मादयमवैदिकत्वादसमर्थः ।

वेद-नाम-रूप-कर्ममय विश्व को सत्य मानता है, जैसा कि पूर्व की श्रुतियों से बतला दिया गया है । परन्तु सम्भव है, इतने पर भी अन्ध भक्तों की निद्रा न खुले और फिर भी वे अपना वही बेसुरा राग ही अलापते रहें । अतः उनकी मोह-निद्रा को तोड़ने के लिए हमें और भी प्रमाण देने पड़ते हैं । श्रुति कहती है—“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” सत्य-कृष्ण-रहस्य के प्रारम्भ में ही हम बतलाआये हैं कि यह सारा विश्व उसी ब्रह्म से बना है । बस, इसी बात को बतलाती हुई श्रुति ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म, यह कयती है । सर्व उद्देश्य है, ब्रह्म विधेय है । सर्व को उद्देश्य बना कर ब्रह्म का विधान किया जाता है । भग-वान् अर्जुन से कहते हैं—

“ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीता७।२)

भगवान् कहते हैं कि ज्ञान यदि विज्ञान सहित जान लिया जाता है तो फिर कोई जानने की वस्तु ही शेष नहीं है । वास्तव में बात ठीक है । ज्ञान कारण है, विज्ञान कार्य्य है । कार्य्य-कारण के अलावा और तीसरी बात है ही क्या ? इन को जान लेने पर वास्तव में कोई जानने की वस्तु बाकी नहीं बचती है । अनेक से एक की ओर जाना अर्थात् कार्य्य से कारण की ओर जाना ज्ञान कहलाता है, एवं एक से अनेक की ओर आना विज्ञान कह-

शङ्करो
इतर
न्तिक-
विशेष
वस्तु
शब्द-
वस्तु
शङ्क-

की
क्तों
हैं।
हैं।
हम
को
हम
ग-

लाता है। एक ही ज्ञान को विविध ज्ञान में परिणत कर देना विज्ञान है। विविध ज्ञानों को एक ज्ञान में परिणत कर देना ज्ञान है। एक से अनेक की तरफ जाना—संचर क्रम है अर्थात् सृष्टिक्रम है, अनेक से एक की तरफ जाना प्रतिसंचर क्रम है—अर्थात् मुक्तिक्रम है। वही ज्ञान—वही ब्रह्म—संचर क्रिया नानाभाव में परिणत हो जाता है एवं प्रतिसंचर क्रम में वही नानात्व एक भाव में परिणत हो जाता है। एक ही नाना-रूप बन जाता है, नाना-रूप ही एक बन जाता है। बस, इसके अलावा और है ही क्या ? मिट्टी एक है, उसी से हजारों घट उत्पन्न होते हैं एवं घड़े फूटे कि मिट्टी की मिट्टी। बस, इसी प्रकार ब्रह्म एक है, वही माया—बल के कारण नामरूप में परिणत हो जाता है। अन्त में वह एक का एक ही हो जाता है। शङ्कराचार्य के हिसाब से नाम—रूपवत् माया भी मिथ्या ही है। परन्तु हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि यह उनकी दूसरी भूल है।

माया मिथ्या नहीं है, माया एक पदार्थ है—वस्तु है। जैसे नाम-रूप स्वरूप घट—पटादि पदार्थ हैं वैसे ही माया भी एक पदार्थ है। माया यदि भूँठी होती तो यह विश्व ही न बनता। जो माया विश्व का स्वरूप बनाती है उसे मिथ्या बतलाना, असत् बतलाना, साहस मात्र है। विश्व की अविच्छात् यह महामाया ही तो है। ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र सब इसी के पेट में, एक कोने में, पड़े हुए हैं। विश्व को उत्पन्न करने वाली, विश्व को प्रतिष्ठित करने वाली, अन्त में विश्व का संहार करने वाली—यही तो महामाया है। ऐसी माया को मिथ्या बतलाना क्या साहस कहीं कहा जा सकता ? यदि माया असत् होती तो इससे अव्यय ब्रह्म का स्वरूप क्यों कर ढँक जाता ? आच्छादन-करना सत् वस्तु का धर्म है। दीपक को यदि घड़े से ढँक दिया जाता है तो उसका प्रकाश दब जाता है। परन्तु घड़ा कोई सत् पदार्थ है तभी तो न उससे दीपप्रभा आच्छादित हो जाती है। यदि असत् होता अर्थात् कुछ न होता तो दीप-प्रभा कैसे ढँकी जाती ? एवमेव यदि माया कुछ न होती तो उससे ब्रह्म क्यों कर ढँका जाता ? परन्तु भगवान् स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं—“नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।” भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! मैं (अव्यय) योगमाया से ढँका हुआ हूँ, अतएव साधारण मनुष्यों की दृष्टि में

नहीं आता हूँ । भगवान् “समावृतः” शब्द का प्रयोग कर रहे हैं । क्या असत् वस्तु के लिए—मिथ्या वस्तु के लिए—‘समावृतः’ कहा जा सकता है ? हर्गिज नहीं । यही नहीं, जिस स्वप्न के मिथ्यात्व के आधार पर शङ्कराचार्य जगत् को मिथ्या मानते हैं, हम उस स्वप्न तक को सत्य मानते हैं । यदि स्वप्न सच्चा न होता तो स्वप्न में स्त्री-संगमात् कभी रेत-स्खलन न होता । स्वप्न में स्त्री-प्रसङ्ग करने से रेत-स्खलन हो जाता है, अतएव मानना पड़ता है कि उस समय अवश्य ही क्रिया होती है, ऐसी अवस्था में स्वप्न-सृष्टि को मिथ्या कैसे बतलाया जा सकता है ? “सन्ध्ये सृष्टिराह हि” इससे व्यास भगवान् स्वप्न-सृष्टि को भी सत्य मानते हैं । “माया मात्रंतु कात्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्” में मायामात्रं का मिथ्यामात्रं अर्थ करना सर्वथा अशुद्ध है । माया मिथ्या हो तब न, मायामात्रं का मिथ्यामात्रम्-अर्थ किया जाय । अतएव स्वाप्नान्तिकवत् जगत् को मिथ्या बतलाना सर्वथा उपेक्षणीय ही है ।

अस्तु हम बतला रहे हैं कि एक से अनेक की ओर आना विज्ञान कहलाता है, इसे ही विश्व कहते हैं तथा अनेक से एक की तरफ जाना ज्ञान कहलाता है, इसे ही ब्रह्म कहते हैं । ब्रह्म ही विश्व बन जाता है, ब्रह्म से नाना भाव कैसे उत्पन्न हुआ—एक ही ब्रह्म नाना कैसे बन गया—ब्रह्म विश्व-स्वरूप में कैसे परिणत हो गया—इसे जानने की विद्या का नाम ही विज्ञान है । एवं यह विश्व क्यों कर ब्रह्म बन जाता है—नाना कैसे एकत्व में परिणत हो जाता है—इसकी जानकारी का नाम ज्ञान है । एक ही मिट्टी से वृक्ष बना है, इसमें हजारों टहनियाँ हैं, हजारों पत्ते हैं, सैकड़ों फल हैं—बस, इसी का नाम विज्ञान है । ‘वृक्ष का विज्ञान बतलाओ’—इस प्रश्न के उत्तर में आपको बतलाना पड़ेगा—इसमें इतने पदार्थ हैं, इतने पत्ते हैं—इतने तन्तु हैं, इतनी शाखाएँ हैं—उनमें ये शक्तियाँ हैं । एक वृक्ष को विविध रूप से बतलाने का नाम ही तो विज्ञान है । एवं ‘वृक्ष के ज्ञान के विषय में कुछ कहिए’—इस प्रश्न के उत्तर में आपको कहना पड़ेगा—शाखा टहनी—नाना भाव, असल में, उस एक से ही उत्पन्न हुआ है । यह सारा प्रपञ्च केवल मिट्टी ही है । एक मिट्टी ही नाना—रूप बनी हुई है । भगवान् कहते हैं कि ‘कारण ब्रह्म से विश्व कैसे बना—यह जान जाओ और कार्य—विश्व कारणब्रह्म में परिणत क्यों कर

या असत्
हर्गिज
जगत्
दि स्वप्न
स्वप्न
मड़ता है
ष्टि को
से व्यास
र्योनान-
अशुद्ध
जाय ।
ही है ।
न कह-
ज्ञान
ह्य से
वश्व-
ज्ञान
रणत
बना
का
पको
तनी
का
गहन
उस
ट्टी
कैसे
कर

हुआ—यह जान जाओ । इस प्रकार विज्ञान सहित ज्ञान-तत्त्व को पहचान जाओ, फिर बाकी बचता ही क्या है ? बस, 'ज्ञान' और 'विज्ञान'—इन दोनों पक्षों में से ज्ञान-पक्ष की ओर ध्यान दिलती हुई श्रुति कहती है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । जगत् के नाना भाव की ओर इशारा करती हुई कहती है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं यह नाना-रूप विश्व मूल में वही एक ब्रह्म है, यह 'ब्रह्म' शब्द द्वारा बतलाया जाता है । जो नाना भाव से एकत्व की ओर ले जा रहा है, उसी का नाम तो ज्ञान है । इससे कहना हमें यही है कि श्रुति सारे विश्व को ब्रह्म बतलाती है । ब्रह्म का स्वरूप—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह बतलाया जाता है ।

सत्य से सत्ता अभिप्रेत है, ज्ञान से चेतना अभिप्रेत है, अनन्त से आनन्द अभिप्रेत है । अनन्त नाम है बहुत्व का । बहुत्व ही को भूमा कहते हैं । भूमा ही का नाम आनन्द है । अतएव "यो वै भूमा तद्वै सुखम् यदल्पं तददुःखम्" यह कहा जाता है । कहना यही है कि श्रुति ब्रह्म को सत्य-स्वरूप बतलाती है एवं नामरूपात्मक संपूर्ण विश्व को ब्रह्म बतलाती है, ऐसी अवस्था में विश्व को मिथ्या बतलाना सर्वथा अशुद्ध है । आगे जा कर, विज्ञान-पक्ष को बतलाती हुई श्रुति कहती है—"**ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।**" यहाँ ब्रह्मोद्देश्येन जगत्-विधान है । 'एक' पर ध्यान दिलाती हुई श्रुति —"**ब्रह्मैवेदं**" कहती है और वही एक 'नाना' बन गया है—इस बात को बतलाती हुई—'**सर्वम्**' कहती है । 'एक ही से नाना भाव उत्पन्न हुआ है'—यही श्रुति का तात्पर्य है । इस प्रकार जब श्रुति सारे प्रपञ्च को ब्रह्म बतलाती है एवं ब्रह्म को सत्य बतलाती है तो ऐसी अवस्था में 'जगन्मिथ्यावाद' के अवैदिक होने से वह सर्वथा अनादेय ही समझना चाहिए । जगत् को मिथ्या बतलाना ब्रह्म को मिथ्या बतलाना है । इसीलिए तो भाष्यकार शङ्कराचार्य के लिए "प्रच्छन्न बौद्ध" शब्द का उपयोग करते हैं । इसी सत्यत्व का निरूपण करते हुए कहते हैं—"**वेदेतावदमुष्य जगतः सत्यत्वं प्रतिज्ञायते ।**" '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' तथा '**चेदं जगतो मिथ्यात्वमवैदिकत्वादनादेयम् ।**'—

वादी पूर्वपक्ष कहता है—'यह सारा विश्व—सत्ता-ज्ञान-आनन्द-नाम-रूप-कर्म-स्वरूप 'षाट्कौशिक' कहलाता है । अव्यय की आनन्द-विज्ञान-मन-

प्राण-वाक्-ये पाँच कलाएँ हैं। पाँच में—‘आनन्द-विज्ञान-मन-ये मुक्तिसाक्षी कहलाते हैं, ‘मन-प्राण-वाक्’ ये सृष्टिसाक्षी कहलाते हैं। मन-प्राण-वाक् का नाम ही सत्ता है, इसीसे नाम-रूप-कर्म उत्पन्न होते हैं। मन से रूप उत्पन्न होता है, प्राण से कर्म उत्पन्न होता है, वाक् से नाम उत्पन्न होता है। मन, रूपों का आत्मा है; प्राण, कर्मों का-शरीरों का-आत्मा है; वाक्, नामों का आत्मा है। ‘मन-प्राण-वाक्’-अमृत भाग है, ‘नाम-रूप-कर्म’ मर्त्य भाग है। छहों अविनाभूततया रहते हैं। ‘नाम-रूप-कर्म’ ही प्रत्यक्ष के विषय बनते हैं। ‘नाम-रूप-कर्म-सत्ता-चेतना-आनन्द’-इन छः की समष्टि को ‘विश्व’ कहा करते हैं। अतएव यह विश्व षाट्कौशिक कहलाता है। ऐसी अवस्था में सारे प्रपञ्च का ब्रह्मत्व प्रतिपदित करती हुई—सारे प्रपञ्च को ब्रह्म बतलाती हुई—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’—यह श्रुति-सत्ता-ज्ञान-आनन्द स्वरूप जो ब्रह्म भाव है—उसे तत् त्रयावच्छेदेनैव, न कि नाम-रूपादिमायिक भावावच्छेदेन सत्य बतला रही है।

तात्पर्य्य यही है कि ‘आनन्द-विज्ञान-सत्ता’—ये तीन तो ब्रह्म हैं एवं नाम-रूप-कर्म-ये तीन माया हैं। इनमें से ‘आनन्द-विज्ञान-सत्ता को ही पूर्व-श्रुति से सत्य बतलाया जाता है, न कि नाम-रूप-कर्म-स्वरूप माया को। नाम-रूप-कर्म को कोई सत्य न समझ बैठे अतएव श्रुति कहती है कि ‘सब ब्रह्म ही ब्रह्म है—नाम-रूप सर्वथा मिथ्या है। ‘तुम जो कुछ देख रहे हो, समझ लो, वह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। केवल ब्रह्म ही सच्चा है, बाकी का सारा नाम-रूप-कर्म-मय प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या है। यही “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” का तात्पर्य्य है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, उस समय, अभ्रान्त मनुष्य कहता है कि भाई यह सर्प नहीं रज्जु है, इसे सर्प मत समझो, रज्जु समझो। तुम्हारा इसे सर्प समझना भ्रान्तिमात्र है। एवमेव—ब्रह्म एक है—अर्थात् एक-भाव-स्वरूप जो तत्त्व है—वही ब्रह्म है, न कि अनेक भावोपेत नानाभावयुक्त विश्व-ब्रह्म है। एक में जो तुम नानाभाव समझ रहे हो—वह तुम्हारी भ्रान्ति है। नानाभाव भूँठा है। रज्जु में जैसे सर्प-बुद्धि मिथ्या है एवमेव ब्रह्म में नानाभाव-बुद्धि मिथ्या है। यह सारा नानाभाव ब्रह्म ही है। अर्थात्-नानाभाव भूँठा है—केवल एक भाव सत्य है जो कि ब्रह्म है, यहाँ—“सर्व-

खल्विदं” का तात्पर्य यही है। जैसे-रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है तद्वत् ब्रह्म को-नामरूप स्वरूप-नानाभाव युक्त न समझ लिया जाय अतएव “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”—यह कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि—“यह रज्जु है-सर्प नहीं है” एवमेव ब्रह्म एक है, न कि अनेक-भावोपेत विश्व ब्रह्म है। इस प्रकार नानात्वोपपादक जो नाम-रूप-कर्म हैं—“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इस श्रुति से उन्हीं का प्रत्याख्यान किया जाता है। कारण इसका यही है कि नाम-रूप-कर्म मायिक हैं एवं मायिक वस्तु सर्वथा मिथ्या होती है—यह वेदान्त का अटल सिद्धान्त है। तुम जो नानाभाव देख रहे हो—वह सर्वथा मिथ्या है। नाम-रूप-कर्म कोई वस्तु नहीं है। सारा प्रपञ्च ब्रह्म ही ब्रह्म है। नाम-रूप-कर्म मिथ्या है, सच्चिदानन्द ब्रह्म सच्चा है। यही “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” का तात्पर्य है। नाम-रूप-कर्म कोई चीज नहीं है, नाना-भाव कोई वस्तु नहीं है—ब्रह्म ही सच्चा है। सारा नाम-रूप प्रपञ्च भूँठा है, वास्तव में सच्चा केवल ब्रह्म ही हैं—यही श्रुति का तात्पर्य है। ऐसी अवस्था में शङ्कराचार्य के मत को क्यों कर अवैदिक बतलाया जा सकता है? इसी पूर्व-पक्ष का उद्धरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

“ननु च योः-षाट्कौशिकं हीदं विश्व रूपम्-सत्ता, ज्ञानम्, आनन्दः, नाम-रूप-कर्म चेति । तत्र सर्वस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपादयन्तीय श्रुतिः सत्ता ज्ञाना-नन्दैतद् ब्रह्मभावत्रयावच्छेदेन सत्यत्वमाचष्टे न नामरूपादि मायिक भावाव-च्छेदेन । यथा रज्जुरियं न सर्पः, एवं ब्रह्मेदमेकं नत्वनेकभावोपेतं विश्वम् । इत्येवं नानात्वोपपादकानां नामरूपकर्मणामेवेदं प्रत्याख्यानं क्रियते तेषां मायिकतया मिथ्यात्वात्” इति चेत् तत्र ब्रूमः ।

भाष्यकार कहते हैं कि “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” का ऐसा अर्थ करके द्रविड प्राणायाम द्वारा यदि कोई जगन्मिथ्यात्ववाद का समर्थन करना चाहता है तथा नामरूप सर्वथा मिथ्या है; वस्तुतः सारा प्रपञ्च मिथ्या ही है; सारा प्रपञ्च ब्रह्म ही ब्रह्म है; नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है;—ऐसा कह कर जगन्मिथ्यावाद की ही लीपापोती करता है—तो इस विषय में कहना हमें यही है कि “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”—इस श्रुति में अर्थ-संकोच करने में चूँकि कोई प्रमाण नहीं है, अतएव ‘सर्व’ शब्द से सत्ता-चेतना-आनन्दवत् नाम-रूप-

कर्म का भी संग्रह होने से इन को भी ब्रह्मभावयुक्त मानना पड़ेगा 'सर्व' शब्द से सत्ता-चेतना-आनन्द का ही ग्रहण होता है, नाम-रूप-कर्म का ग्रहण नहीं होता है: सत्ता-चेतना-आनन्द तक ही 'सर्व' शब्द का अर्थ-संकोच है-तो हम पूछना चाहते हैं कि इसमें आप क्या प्रमाण रखते हैं? वस्तुतः इस मीमित अर्थ के पक्ष में आप कोई भी प्रमाण नहीं दे सकते। बड़े आश्चर्य की बात है कि जब श्रुति "सर्वम्" कह रही है-सबके ग्रहण का आदेश कर रही है तो ऐसी अवस्था में 'सर्व' से केवल सत्ता-चेतना-आनन्द का ही अर्थ ग्रहण करना क्या साहसमात्र नहीं है? क्या वेद के उद्गाता ऋषि नाम-रूप-कर्म को नहीं जानते थे? नाम-रूप-कर्म मिथ्या है-क्या यह ज्ञान आप ही को हुआ? सच तो यह है कि श्रुति का ऐसा संकुचित अर्थ मानना द्रविड प्राणायाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऋषियों द्वारा यदि नाम-रूप-कर्म को मिथ्या समझा जाता तो 'नामरूपकर्ममतिरिक्तं सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-यह कहा जाता। सारा प्रपञ्च पाट्कौशिक है-जिनमें तीन सत्य हैं और तीन मिथ्या हैं-क्या वैज्ञानिक महर्षि इतना भी नहीं जानते थे? क्या बिना सोचे समझे ही उन्होंने 'सर्वम्' कह दिया है? यदि नाम-रूप-कर्म की सत्यता अभिप्रेत न होती तो यह सारा प्रपञ्च सत्य ही है-सारा प्रपञ्च ब्रह्म ही है-इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म बतलाना सर्वथा अनुचित होता। नामरूपकर्ममय विश्व मिथ्या है-ऐसा जानते हुए भी यदि ऋषियों ने 'सर्वम्' को ब्रह्म कह दिया है-तो पूर्वपक्ष के अनुसार विज्ञान में मिथ्यात्व के प्रयोग का दोष ऋषियों के सिर मढ़ा जाता है। ऋषि-दृष्टि में नाम-रूप-कर्म मिथ्या होते, तो वे 'सर्वम्' को उद्दिष्ट करते हुए 'ब्रह्म' का विधान क्यों करते? अतः मानना पड़ता है कि "सर्वम्" शब्द से सत्ता-चेतना-आनन्दवत् नाम-रूप-कर्म का समावेश भी ऋषियों को अवश्य ही अभिप्रेत है-अन्यथा 'सर्व' शब्द अव्याप्त हो जाएगा। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म-इति श्रुतौ संकोचे प्रमाणाभावात्। अनेन सर्वं शब्देन नाम रूप कर्मणामप्युपसंगृहीतत्वादिषामपि ब्रह्मत्वविधानमनुकल्पते। तत्परित्यागेन ब्रह्मत्वविधानस्यावैज्ञान्यात्।" इति।—इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है? जब कि श्रुत्यन्तर में स्पष्ट ही नाम-रूप को ब्रह्म कहा गया है। वह प्रजापति ही 'नाम' बन गया-वही 'रूप' बन गया।

“ता रूपेणानुप्राविशत् तस्मादाहुः रूपं वै प्रजापतिरिति ।
तानाम्नानुप्राविशत्-तस्मादाहुः-नाम वै प्रजापतिरिति” ॥

(तै० ब्रा० २।२।७।१)

इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में नाम-रूप को प्रजापति अर्थात् ब्रह्म बतलाया गया है । ‘अनृते द्वेतु मायिके’ कहने वाले शङ्कराचार्य—“नाम-रूपे सत्यम्”—(बृहद् आ० उ० १।६।३)—‘रूपं वै प्रजापतिः’—‘नाम वै प्रजापतिः’ (तै० ब्रा० २।२।७।१)—प्रजापतिरेवेदं सर्वमसृजतयदिदं किञ्च—एतावद् वा इदं यावद्—रूपं चैव नामं च—ते है ते ब्रह्मणो महती अम्बे—महती पक्षे ‘सर्व-खल्विदं ब्रह्म’ (छां० उ० ३।१।४।१) ब्रह्मैवेदं सर्वम् (बृह० उ० २।५।१) ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० उ० २।१।१) इन श्रुतियों की संगति किस प्रकार करेंगे ? इस का निर्णय हम विचारशील विदुषों पर ही छोड़ते हैं । इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

“श्रुत्यन्तरे नाम-रूपयोरपि ब्रह्मत्वस्य स्पष्टं प्रदर्शितत्वाच्च” इति ।
वादी फिर पूर्व-पक्ष प्रस्तुत करता है कि बड़े आश्चर्य की बात है—कौन-कहता है कि सर्व शब्द से आनन्द-विज्ञान-सत्ता मात्र का ही ग्रहण करने में संकोच मानना पड़ता है । “सर्व शब्द के संकोचपरक मानने में कोई प्रमाण नहीं”—यह आक्षेप करके आप हमें अवाक् करना चाहते हैं, परन्तु हम ऐसी साक्ष्य-शून्य दलीलों से आपके चक्र में नहीं आ सकते । नाम-रूप-कर्म को असत् आप (सत्यवादी) भी मानते हैं । आनन्द-विज्ञान-सत्ता अमृत है और नाम-रूप-कर्म मृत्यु है—यह आप भी स्वीकार करते हैं । मृत्यु सर्वथा असत् है अतएव मृत्यु को हम मिथ्या कहते के लिए तय्यार हैं । मृत्यु नास्ति—स्वरूप है—अभाव—स्वरूप है । जब मृत्यु है ही नहीं—मृत्यु अर्थात् नाम-रूप कोई वस्तु ही नहीं है तो फिर सर्व शब्द से संकोच कहाँ माना गया ? मृत्यु कोई पदार्थ होता और फिर सर्व शब्द से उसका ग्रहण न किया जाता तो आपका आक्षेप ठीक था । परन्तु जब मृत्यु है ही नहीं, मृत्यु कोई वस्तु ही नहीं है तो फिर सर्व शब्द से सिवाय सत्ता-चेतना-आनन्द के और किसका ग्रहण हो सकता है ? नाम-रूप सर्वथा मिथ्या है । जो वस्तु है, उसी के लिए सर्व शब्द का प्रयोग होता है । “है” स्वरूप-‘सत्ता-चेतना-आनन्द’ तीन ही पदार्थ हैं, अतएव तीन ही

का सर्व शब्द से ग्रहण होना ही न्याय-प्राप्त है । ऐसी अवस्था में “श्रुतौ संकोचे प्रमाणाभावात्” कह कर जगन्मिथ्यावाद का खण्डन कथमपि नहीं किया जा सकता । भाष्यकार कहते हैं कि ‘नाम-रूप मिथ्या हैं—असत् है—अभाव-स्वरूप है—नास्ति-स्वरूप है, अतएव इनका सर्व शब्द से ग्रहण नहीं होता है—वादी के इस कथन से कहीं जरा भी भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । नाम-रूप मिथ्या है, असत् है—इसी पर तो हमारा अन्देशा (सन्देह) है । नाम-रूप को मिथ्या मान लिया जाए तो वास्तव में आप मन के लड्डू खा सकते हैं, परन्तु यहाँ तो गुरु से ही ‘नाम-रूपे सत्यम्’—‘नाम-रूपे सत्यम्’ का घण्टाघोष करते आ रहे हैं । वादी महाशय कहते हैं कि नाम-रूप असत् है, अतएव मिथ्या है; अतएव ब्रह्म नहीं है ।—

इस पर अधिक न कह कर यही कहना है कि ‘नाम-रूप मिथ्या है’ पहले यह सिद्ध हो जाय, तब तो इनका असत्यत्व सिद्ध हो । फिर नाम-रूप ब्रह्म नहीं है—यह सिद्ध हो, तब इनका मिथ्यात्व सिद्ध होना साबित हो । इस प्रकार अन्योन्याश्रय-ग्रास से अपने आप ही सिद्ध जो ब्रह्मत्व-विधान है—वह सर्वथा अनवरुद्ध है । मिथ्या हो, तब अब्रह्म माना जाय, एवं अब्रह्म हो तब मिथ्या माना जाय—ऐसी अवस्था में नाम-रूप का ब्रह्मत्व ज्यों-का-त्यों बना रहता है । आपने कहा था कि ‘नाम-रूप मृत्यु है, अतएव असत् है’—यह बात तो आप (सत्यवादी) भी स्वीकार करते हैं । असत् ही को तो मिथ्या कहते हैं—इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही कहना है कि कृपानिधान ! असत् मानते हैं इससे नाम-रूप मिथ्या हो गए—यह आपको किसने कहा ? अवश्य ही—नाम-रूप मृत्यु-स्वरूप हैं—अतएव असार हैं । परन्तु असत् का यह तात्पर्य नहीं है कि नाम-रूप मिथ्या हैं एवं नास्ति-स्वरूप हैं, अथवा नाम-रूप की अपनी सत्ता नहीं है । ब्रह्म-सत्तया, ब्रह्म-चेतनया-ब्रह्म-आनन्देन-नामरूप स्वरूप विश्व ‘सच्चिदानन्दम्’ कहलाता है । यदि सत्ताएँ होतीं तो ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’ इस श्रुति का विरोध आता । नाम-रूप को सत्य मान लेने पर आप जैसे महानुभाव-द्वैतभाव न समझ जाएँ—अतएव हमने नामरूप को असत् कहा है । नाम-रूप असत् है, अतएव मिथ्या है—यह किसने कहा ? जबकि नाम-रूप सत्य है तो फिर अवश्य ही सर्व शब्द से सत्ता-चेतना-आनन्दवत् नाम-रूप-कर्म का ग्रहण भी सर्वथा अनवरुद्ध है ।

“न च नाम-रूपयोर्मिथ्या त्वात्-सर्व शब्देनाऽग्रहणमिति भ्रमितव्यम् ।” “मिथ्यात्वात्-अब्रह्मत्वम् । अब्रह्मत्वाच्च मिथ्यात्वम्-इत्यन्योन्याश्रय ग्रासात् स्वरसतः सिद्धस्य ब्रह्मत्व विधानस्यानवरुद्धत्वात् ।”

कहाँ तक कहें—यदि वादी महाशय एक बार भी ब्राह्मण-ग्रन्थों पर दृष्टि डाल लेते तो वे जगत् को मिथ्या मानने का साहस न करते । श्रुति बार-बार ईश्वर को सत्यकाम और सत्यसंकल्प बतलाया करती है । श्रुती कहती है—

“सोऽकामयत । एकोऽहं बहुस्याम्” इति । ब्रह्म ने कामना की—मैं एक हूँ, अब बहुत बनूँ, अर्थात् नाना भाव में परिणत होऊँ । ब्रह्म सत्य कामनाओं द्वारा विश्वस्वरूप में—नाना भाव में—परिणत होता है । आप कहते हैं—नाना भाव भूँठा है । परमेश्वर सत्य-काम है । वह चाहता है, वही कर बैठता है । उसकी चाह से यह जगत् बना है । ऐसी अवस्था में जगत् को मिथ्या बतलाना अस्मदादिवत् ईश्वर के काम को मिथ्या बतलाना है । जिस क्षर-सृष्टि को—नामरूपात्मक सृष्टि को—आप मिथ्या बतला रहे हैं उसे ही श्रुति स्पष्ट शब्दों में ‘ब्रह्म’ नाम से व्यवहृत कर रही है । श्रुति कहती है—

“भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद् ब्रह्मैकमक्षरम् । बहु ब्रह्मैकमक्षरम् ।”

अक्षर बहुत से ब्रह्मों पर अर्थात् क्षरों पर सवार रहता है यही ‘ब्रह्मैकमक्षरम्’ का तात्पर्य है । इसीलिए तो ‘कूटस्थोऽक्षरमुच्यते’ यह कहा जाता है । ब्रह्म-कूट पर अर्थात् क्षरकूट पर अक्षर रहता है । नाम-रूपात्मक क्षर जगत् ब्रह्म ही है—इसीलिए भगवान् कहते हैं—‘ब्रह्माक्षर समुद्भवम्’ । यह ब्रह्म अर्थात् क्षर ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न हुआ है । अस्तु, कहना यही है कि ईश्वर सत्यसंकल्प है—सत्यकाम है । उसके सत्य-संकल्प से सिद्ध अर्थात् उत्पन्न जो नानाभावात्मक विश्व है—वह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता । जगत् को मिथ्या बतलाना ब्रह्म को मिथ्या बतलाना है । ईश्वरीय सत्यसंकल्प स्वरूप जो नाना-रूपमय विश्व है—उसे मिथ्या मानना सर्वथा अनुचित है । अतएव हम कह सकते हैं कि ‘जगन्मिथ्यात्व’—वाद सर्वथा अवैदिक है, अतएव त्याज्य है ।

“सत्यकामो हि सत्यसंकल्पोऽयं भगवानीश्वरः श्रूयते-सोऽकाम-
यत । एकोऽहंबहुस्याम्-इति । सत्यसंकल्पसिद्धं हीदं नानात्वंनात्य-
न्तायानृतं भवितुमर्हति । ईश्वरीय सत्यसंकल्परूपस्य नाना नाम-
रूपत्व मिथ्यात्वकल्पनाया अनौचित्यात् ।” इति ।

वादी कहता है कि साहब ? आप बार-बार हमारे ऊपर आक्रमण कर रहे हैं कि वेद-वेदान्त-गीता-कहीं भी एक भी वाक्य ऐसा नहीं है जिससे नाना भाव का खण्डन होता हो—नामरूप के सत्यत्व का खण्डन किया गया हो । अब तक तो हम आपके आक्रमणों को सहते रहे, परन्तु अब नहीं सहा जाता । “श्रुति में एक भी वाक्य ऐसा नहीं है जिससे जगत् के नानात्ववाद का खण्डन किया गया हो”—यह बात हमारे खटकती है, जब कि श्रुति में बार-बार नाना-त्ववाद का खण्डन किया गया है । अधिक वाद-विवाद करना-समय खोना है, केवल निदर्शनार्थ-एक वाक्य बतला कर हम आपका सन्तोष कर देते हैं । नाना-भाव का खण्डन करती हुई तथा एकत्ववाद की स्थापना करती हुई श्रुति कहती है—

“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । नेहनानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति
य इह नानेव पश्यति”—

यह श्रुति स्पष्ट ही नानात्व का खण्डन कर रही है । श्रुति कहती है—सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद-शून्य केवल ब्रह्म ही सत्य है । नाना भाव जगत् में है ही नहीं । जो मनुष्य नानाभाव पर विश्वास कर नानाभाव की ही, नाम-रूप की ही, उपासना करता है, वह मृत्यु के साथ मृत्यु ही को प्राप्त होता है । नाम-रूप मृत्यु-स्वरूप है । जो इनको सत्य समझता है, उसका मोक्ष कभी नहीं हो सकता है—यही श्रुति का अर्थ है । कृपानिधान ! इन्हीं श्रुतियों के आधार पर हम नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहने के लिए तय्यार हैं ।

“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमा-
प्नोति य इहनानेव पश्यति ।” (बृहद्० उप० ४।४।१६) इयेवं हि
श्रुतिरत्र नानात्वं प्रत्याचष्टे । तस्मान्मिथ्यात्वं ब्रूमः—“इति चेद्भ्रान्तोऽसि ।”
भाष्यकार कहते हैं कि भाई ! यदि तुमने इसी श्रुति-वाक्य के आधार पर जगत्
को मिथ्या मान रक्खा है तो हम कह सकते हैं कि तुम बहुत भूल कर रहे हो ।

श्रुति का वास्तविक तात्पर्य न समझ कर तुमने उससे जगन्मिथ्यात्व सिद्ध मान लिया है। यदि जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते तो जरा भी भ्रम न रहता। श्रुति द्वारा 'अमृत और मृत्यु'—ये दो तत्त्व मानने पड़ते हैं—जैसा कि हम पूर्व प्रकरणों में बतला आए हैं।

श्रुति प्रमाण से और प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा भी अमृत और मृत्यु दो तत्त्व मानने पड़ते हैं। अमृत-तत्त्व सर्वथा शान्त है—निष्क्रिय है—आलम्बन है। मृत्यु-तत्त्व-सर्वथा अशान्त है—सक्रिय है—नाना है। अमृत एक है, मृत्यु नाना है। मृत्यु हर वक्त बदलता रहता है, अमृत रात-दिन उस बदलने वाले मृत्यु में रहता हुआ भी नहीं बदलता। इसीके लिए 'तिष्ठन्नपि न तिष्ठति'—यह कहा जाता है। एक नवजात शिशु पर दृष्टि डालिए। अभी एक महिने का है और लम्बाई में एक हाथ का है। थोड़े दिनों में जाके वह बच्चा बड़ा हो जाता है, अन्त में वही बालक साढ़े तीन हाथ का हट्टा-कट्टा जवान हो जाता है, अन्त में वह वृद्ध हो जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उसकी दस (१०) अवस्थाएँ हो जाती हैं। यह जो नानात्व है, वह मृत्यु-निबन्धन है। दस (१०) अवस्थाएँ तो मोटी-मोटी बतलाई गई हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करो तो प्रतिक्षण नई अवस्था मालूम होगी। इस प्रकार उसकी जिन्दगी के जितने क्षण हैं, मानना पड़ेगा कि, उतनी ही अवस्थाएँ उसमें होती हैं। यह जो अवस्था-नानात्व है, वह मृत्यु-निबन्धन है। परन्तु साथ ही जन्म से मृत्यु तक—'स एवायं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा भी बनी रहती है। इससे मानना पड़ता है कि इस नानात्व का आलम्बन कोई नित्यतत्त्व अवश्य ही है, अन्यथा स एवायं प्रत्यभिज्ञा बन ही नहीं सकती। पूर्व-क्षण में जो अवस्था थी, उसका उत्तर-क्षण में तो सर्वथा अभाव है फिर एकत्व-प्रतीति करवाने वाला है कौन? अतएव मृत्यु से अलग एक अमृत-तत्त्व अवश्य ही मानना पड़ता है। अमृत और मृत्यु का स्वरूप विस्तृतरूपेण सत्य-कृष्ण-रहस्य में बतला दिया गया है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि-अमृत और मृत्यु—दोनों तत्त्व श्रुति-सिद्ध हैं। दोनों ही अविनाभूत हैं। न अमृत के बिना मृत्यु रहती है और न मृत्यु के बिना अमृत रहता है। रहें कैसे? अमृत व्यापक है, उस पर मृत्यु अर्थात् नानाभाव नृत्य करता रहता है। अमृत से

अलावा कोई खाली स्थान हो, तब न, मृत्यु अमृत से अलग रहे ! मृत्यु और अमृत कभी अलग नहीं रहते । दोनों अविनाभूत हैं । इसी सिद्धान्त को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

“अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।” इति ।

(शत० १०।५।२।४)

अमृत भी नित्य तत्त्व है और मृत्यु भी अमृतालम्बन होने के कारण नित्य है । जब अमृत में मृत्यु सहचर भाव से रहता है तो उस अवस्था को विश्वातीत शब्द से व्यवहृत किया जाता है एवं अमृत में मृत्यु चिति सम्बन्ध से रहता है तो उस अवस्था को विश्व कहा जाता है । परन्तु ध्यान रहे—अमृत-मृत्यु—दोनों अविनाभूत हैं । विश्व के मूल-अमृत और मृत्यु—ये दो तत्त्व हैं—इसी बात को “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।” “मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।” यह श्रुति बतलाती है । अमृताभिप्रायेण ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’ यह कहा गया है और मृत्यु के अभिप्राय से ‘मृत्योः स’ यह कहा गया है । भेद मृत्यु-निबन्धन है, अभेद अमृत-निबन्धन है—यही इस श्रुति का तात्पर्य है । ‘मृत्यु के साथ मृत्यु को प्राप्त होता है जो कि संसार में नानाभाव की उपासना करता है’—इससे मृत्यु का स्वरूप बतलाया जाता है, न कि नानाभाव का खण्डन किया जाता है । ‘मृत्युमाप्नोति’ ये अक्षर ही मृत्यु की सत्ता बतला रहे हैं । यदि मृत्यु कोई चीज ही न होती तो—‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति’ यह कैसे कहा जा सकता था ? जो मनुष्य भेद देख रहा है वह मृत्यु की मृत्युता देख रहा है । भेद ही मृत्युतत्त्व का स्वरूप है, अभेद—अमृतत्व का स्वरूप है । नानात्व मृत्यु—निबन्धन है, एकत्व अमृत-निबन्धन है । नानात्व मृत्यु का धर्म है न कि अमृत का—इसको-केवल इस बात को-बतलाने वाली श्रुति से नानात्व के साधकभूत नाम-रूप मिथ्यात्व का प्रतिपादन होता है—यह तात्पर्य निकालना सर्वथा अनुचित है । इस श्रुति से ‘मृत्यु और अमृत’ का स्वरूप बतलाया गया है न कि नानात्व का खण्डन किया गया है । ब्रह्म सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से शून्य ही है, वह नाना कभी नहीं हो सकता—वह सदा एकरूप ही रहता है । यही ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन’ का तात्पर्य है । एवं मृत्यु सर्वथान्त है, वह एक

कभी नहीं हो सकती; अमृत से बिल्कुल विरुद्धधर्मी है। अमृत शान्त है, तो मृत्यु अशान्त है। अमृत निष्क्रिय है, तो मृत्यु सक्रिय है। अमृत शाश्वतधर्मी है—मृत्यु क्षणिक है। बस, इसी मृत्युतत्त्व के स्वरूप को बतलाने के लिए—“मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति”—यह कहा गया है। इससे नानात्ववाद का खण्डन बतलाना—सिवाय उन्मत्त-प्रलाप के—और क्या कहा जा सकता है ? इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

“इति चेद् भ्रान्तोऽसि । अमृतं मृत्युश्चेति द्वे तत्त्वे श्रुत्याऽभ्युपगम्यते-
“अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्”—इत्यनयोरविना-भावः सिद्धान्तः ।
तच्चेदं नानात्वं मृत्यु धर्मी नामृतधर्म—इत्येतावन्मात्रमर्थं प्रतिपादयन्त्या
अस्याः श्रुत्वा नानात्वोपायकेनाम-रूपमिथ्यात्व प्रतिपादने तात्पर्यानवसायात् ।”

भगवद्गीता वेद सिद्धान्तानुयायिनी है। सम्पूर्ण वेदों का सार निकाल कर श्रीमद्भगवद्गीता में रख दिया गया है। इसीलिए इसे “उपनिषत्” भी कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के आचार्य भगवान् श्री कृष्ण—वेद सिद्धान्तानुसार—जगत् को सत्य मानते हुए एवं जगन्मिथ्यावाद को आसुरमत बतलाते हुए—कहते हैं—“असत्ययमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्” (गीता १६।७)—भगवान् अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन ! ये असुर लोग जगत् को सर्वथा मिथ्या समझते हैं। इनके मत में जगत् अप्रतिष्ठित है—अर्थात् है ही नहीं। एवं ये जगत् को अनीश्वर मानते हैं। अर्थात्—यह जगत् ब्रह्म से पैदा नहीं हुआ है, अतएव यह तो सर्वथा मिथ्या है। इनकी दृष्टि में, असत्यम् से रज्जु-सर्प की ओर जाना चाहिए। रज्जु में जो सर्प-बुद्धि है वह सर्वथा भूँठी है—यहाँ सर्प की प्रतिष्ठा नहीं है, अप्रतिष्ठित है। एवं स्वप्न असत्य होते हुए भी प्रतिष्ठित है। स्वप्न में भी क्रिया होती है, तभी तो वीर्यस्खलन हो जाता है। यही अप्रतिष्ठ और असत्य में फर्क है। जगत् मिथ्या है—मायामात्र है—असत् है—यह मानने वालों को भगवान् ‘असुर’ बतलाते हैं। क्या इतने पर भी जगन्मिथ्यावाद का उद्घोष बना ही रहेगा ? भगवान् जगत् को असत्य मानने वालों के लिए ‘असुर’ शब्द का प्रयोग करते हैं अतएव सर्वथा शान्त इस अमृत ब्रह्म में तादात्म्येन विद्यमान जो मृत्यु-समूह है, उस अशान्त ब्रह्म से यह

सारा नामरूपात्मक जगत् बना हुआ है अतएव मानना पड़ता है कि यह विश्व भवन यही सत्य है । नामरूपमय विश्व ब्रह्म-अमृतमृत्युमय है । अमृतमृत्यु दोनों ब्रह्म के स्वरूप हैं । ब्रह्म का आधा भाग अमृत है, आधा मृत्यु है । अतएव “अर्थं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदद्धममृतम्”—(शत० १०।१।२।६) यह कहा जाता है । इस प्रजापति से विश्व बनता है । प्रजापति सत्य है—सत्य काम है—अमृतमृत्युमय है । अतएव इससे निर्मित जो नामरूपमय विश्व-ब्रह्म है—कार्यब्रह्म है—वह भी अवश्य ही सत्य है—यह अटल सिद्धान्त समझना चाहिए ।

“अपिच वेद सिद्धान्तानुसारेण जगतः सत्यत्वमेवाभिमन्यमानो भगवान् श्री कृष्णोऽपि जगन्मिथ्यात्वं प्रवादस्यासुरमतत्वंमाचक्षाणस्तदवजानीते ।”
“असत्यमप्रतिष्ठं ते (असुराः) जगदाहुरनीश्वरः इति ।” (१६।१७१)

तस्मादमृते परिशान्ते ब्रह्मणि तादात्म्येन सत्ता (विद्यमानेन) मृत्यु-ग्रामेणाशान्त ब्रह्मणा परिकल्पितं हीदं सर्वं नामरूपात्मकं जगदस्तीति सत्यमेवं विश्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तः ।”

वादी पूर्व-पक्ष कहता है कि यदि अमृत और मृत्यु—ये दो तत्त्व मान लिए जाएँगे तो—‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’ इस अद्वैत सिद्धान्त का विरोध होगा । ‘एकम्-एव-अद्वितीयम्’ इन तीनों पदों से सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद की व्यावृत्ति की जाती है । यदि मृत्यु को सत्य मान लिया जाएगा तो सजातीय-विजातीय भेद के न होने पर भी स्वगत-भेद तो अवश्य ही रह जायगा । अतएव जगत् को अर्थात् नामरूपमय मृत्यु को मिथ्या ही मानना चाहिए । इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि आपने अभी उपनिषत् भाग के ही दर्शन किए हैं । यदि ब्राह्मण ग्रन्थों का—वैदिक रहस्य-ग्रन्थों का—अवलोकन कर लिया होता तो कभी ऐसी गड़बड़ नहीं मचती । हम तो यही कहेंगे कि वैदिक-रहस्य के न जानने से आप भ्रम में पड़े हुए हैं । द्वैत-व्यवहार सदा सत्ता-भेद में हुआ करता है, यह समझ लेना चाहिए । वस्तु-यदि हजार हैं और सत्ता एक हो, तो भी वहाँ द्वैत-व्यवहार नहीं होगा । अस्ति-भेद से द्वैत-व्यवहार होता है, भाति-भेद से नहीं होता । भेद करने वाली सत्ता है न कि विज्ञान । अनन्त पदार्थों

के रहने पर भी यदि सत्ता एक है तो अद्वितीय-भाव का कुछ नहीं बिगड़ता । जैसा कि इसी ज्योति कृष्ण-रहस्य में और सत्यकृष्ण-रहस्य में विस्तृतरूपेण बतला दिया गया है । ऐसी अवस्था में आनन्द-विज्ञान-सत्ता-नाम-रूप-कर्म इन छहों पदार्थों की चूँकि सत्ता एक है अतएव 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं होता है । पगड़ी में रूई-कपास-मिट्टी इत्यादि-इत्यादि अनेक वस्तुएँ हैं परन्तु सत्ता चूँकि एक है, अतएव अनन्त वस्तुओं के रहने पर भी—'पगड़ी है' इस अद्वितीय तत्त्व में कोई बाधा नहीं पहुँचती । इसी पूर्व-पक्ष का सत्ताधारेण उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—

“ननु-अमृतमृत्युभ्यां द्वैविध्याभ्युपगमे 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति सिद्धान्त विरोधः प्राप्नोतीति चेद्-वैदिक रहस्यानभ्युपगमाद् भ्रान्तोऽसि । सत्ता भेदे हि द्वैविध्यमापद्यते । अथ बहूनामपि भावानामेक सत्तानुग्रहणे सति नेदमद्वितीयमपद्यते-इत्यन्यत्र विस्तरतो व्याख्यातम् । तथा आनन्द-विज्ञान सत्ता-नाम-रूप-कर्मणां षण्णामपि भावानामेकसत्तानुग्रहणादेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति सिद्धान्तो न प्रच्यवते ।”

यह तो हुई तर्क की बात । अब चलिए-संसार की ओर । यदि मृत्यु-तत्त्व मिथ्या ही होता तो यह संसार कहाँ से बनता ? ब्रह्म में यदि कर्म न होता तो विश्व ही नहीं बनता । यदि विश्व झूठा है तो फिर आपकी वेदान्त-चर्चा भी झूठी है । यदि नामरूप सत्य नहीं है तो 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है'—इस प्रकार नाम सहित जो आपके वाक्य हैं वे भी मिथ्या ही हैं । अतएव आपको नतमस्तक होकर नाम-रूप की सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी । ऐसी अवस्था में—हम जो मृत्यु को, असत् कहते हैं—उसका एकमात्र स्वकीय सत्ताभाव यही तात्पर्य है, न कि असत् का अर्थ मिथ्या है । सत्ता ब्रह्म की ही है । ब्रह्म-सत्ता से जगत् सत् है, एवं स्वयं असत् है । अतएव द्वैतव्यवहार दोनों का नहीं मिलता । अमृत और मृत्यु इस प्रकार दोनों तत्त्वों के रहने पर भी अद्वैत का विरोध नहीं आता । इसका एकमात्र कारण सत्तैक्य है । एक सत्ता होने पर द्वैतव्यवहार नहीं होता, यह बात बिल्कुल ठीक है । अन्यथा-नामरूपकर्म स्वरूप मृत्यु के पक्ष को छोड़ देने पर भी आनन्द-विज्ञान-सत्ता

इन तीन भावों के कारण आपके मत में भी इस 'एकमेव' वाक्य का विरोध गले पड़ेगा । सत्ता-चेतना-आनन्द इन तीनों को तो आप भी सत्य मानते हैं । ऐसी अवस्था में मृत्यु को छोड़ देने पर भी स्वगत-भेद तो आपके मत में बना ही रहता है । बस, जिस प्रकार से आपके मत में सत्ता-चेतना-आनन्द भेदेन तीन रूपों के रहने पर भी एकत्व का कुछ नहीं बिगड़ता एवमेव नाम-रूप-कर्म के ग्रहण से भी एकत्व में कोई बाधा नहीं आती ।

युक्तं चैतत्-अन्यथा नाम-रूप-कर्म परित्यागेऽप्यानन्द विज्ञान सत्तानां त्रित्वोपगमाद् भवन्मतेऽप्यस्य द्वितीयत्वविरोधो गले पतितः स्यात् । तथा चान-दादिभिस्त्रैरूप्येऽपि यथा न एकत्वं विधीयते एवमेषां नामरूपकर्मणां संग्रहणेऽपीदमेकत्वं नापोद्यते । इति भाष्यम् ।”

बात वास्तव में सच है । भान से वस्तु-भेद नहीं होता-सत्ता से ही वस्तु-भेद होता है । घड़ा एक है-देखने वाले दस हजार मनुष्य हैं । सबका ज्ञान पृथक्-पृथक् है । तो क्या इससे घड़े भी दस हजार हो गए ?-हर्गिज नहीं । ज्ञान चाहे दस हजार क्या, दस लाख ही क्यों न हों-यदि सत्ता एक है तो द्वैत-व्यवहार नहीं हो सकता । इस प्रकार इस एक ही विश्व-ब्रह्म में-भाति-सिद्ध अनन्तानन्त पदार्थों के एक सत्तानुगृहीत रहने के कारण सत्ता-सिद्ध जो ब्रह्म है, वह एक ही है । अतएव विज्ञान-आनन्द-सत्तावत् नाम-रूप-कर्म का सत्यत्व भी नहीं हटता-यह सिद्ध हो जाता है । नाम-रूप-कर्म सत्ता श्रित हैं अतएव हम नामरूप को भी सत्ता कहने के लिए तय्यार हैं-यही तात्पर्य है । इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि “अस्ति भाति” इत्यादि द्वारा नाम-रूप-कर्म को मिथ्या बतलाना सर्वथा अशुद्ध है, श्रुति विरुद्ध है, अतएव त्याज्य है । जैसे आनन्द-विज्ञान-सत्ता सत्य है वैसे ही नाम-रूप-कर्म भी अवश्य ही सत्य है ।

“तथा चैकस्मिन्नेवास्मिन् विश्वब्रह्मणि भातिसिद्धान्तमनेकेषामपि भावानामेकसत्तानुगृहीतत्वात्-सत्तासिद्धस्यैकत्वमस्तीति कृत्वा विज्ञानानन्द-योरिव नामरूपयोरिव सत्यत्वं नापैतीति सिद्धम् । इति नामरूपयोः सत्यत्व-स्थापनम् ।”

हम भगवान् श्रीकृष्ण को अवतार बतला रहे हैं । अवतार का सम्बन्ध रूप से है, न कि नाम से । अतएव नाम-रूप दोनों ज्योतियों में से हम रूप-ज्योति का ही निरूपण करते हैं—

“तयोश्च नाम रूपयोरिदं रूपज्योतिर्निरूप्यते ।”

मन में रोहण हेतु-भूत जो वर्ण है-उसीका नाम रूप है । रूप दो प्रकार का हुआ करता है-एक आकार-रूप, दूसरा वर्ण-रूप । गोल-चिपटा-त्रिकोण-लम्बा-षट्कोण-ये जो आकार हैं-इन्हें आकार-रूप कहा जाता है एवं जो काला-पीला-हरित रंग है उसे वर्ण-रूप कहा जाता है । मन रूपों का आत्मा है-यह बात हम पूर्व प्रकरण में बतला आए है । मन ही रूप का अधिष्ठाता है । पुरोऽवस्थित घट-पटादि आकार में मन ही आकारित होता है । वही मन तिल-स्वरूप में परिणत हो जाता है, वही मन पर्वताकाराकारित हो जाता है-वही मन विश्वाकाराकारित हो जाता है । रूप, एक प्रकार की ज्योति है । इस ज्योति को भी प्रकाशित करने वाला यह मन ही है । यदि मन न हो तो रूप-ज्योति बेकार है । अतएव श्रुति कहती है—

“यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन् तदसुप्तस्य तथैवेति ।

दूर गमज्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु ॥”

तात्पर्य्य यही है कि मन ही रूप-ज्योति का अधिष्ठाता है-मन में पदार्थ के सवार होने का साधनभूत जो वर्ण है-उसी का नाम रूप है । पदार्थ मन पर नहीं जाता, अपितु रूप जाता है । मन पर यदि हाथी चला जाय तो उसी समय हाथी के बोझ से शरीर नष्ट हो जाय । अतएव मानना पड़ता है कि मन तदाकाराकारित मात्र हो जाता है । इस रूप से ही वह पदार्थ मन पर सवार हुआ मालूम होने लगता है । चूँकि यह वर्ण पदार्थ को मन पर सवार हुआ दिखला देता है-अतएव ‘रूप्यते येन’ इस व्युत्पत्ति से हम इसे रूप कहने के लिए तय्यार हैं । रूप ही मन पर पदार्थ को आरोहित करता है । इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

‘रूपं मनसिरोहण हेतुर्वर्णः ।’ वर्ण-आकार-भेदेन रूप दो ही प्रकार का है । इन दोनों में जो वर्ण-रूप है उसी का कृष्ण से सम्बन्ध है । लाल-नीला-काला-पीला-हरित इन्हीं का नाम वर्ण-रूप है । यह वर्ण-रूप शुक्ल-कृष्ण भेदेन दो ही प्रकार का है । शुक्ल और कृष्ण के बीच का जो रंग है, वह लाल वर्ण है । काले पर जब सफेद सवार हो जाता है तो वह लोहित हो जाता है । सवार होने को आरोहित कहते हैं । चूँकि काले पर सफेद आरोहित है अतएव इसे रोहित अर्थात् लोहित रंग कहते हैं । इस प्रकार इसी योग से सात रंग हो जाते हैं जिनका विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है । कृष्ण शुक्ल और लाल-ये तीन ही प्रधान हैं । तीनों में भी कृष्ण और शुक्ल ही प्रधान हैं । कृष्ण सृष्टि की पहली अवस्था है, शुक्ल मुक्ति-अवस्था है । एवं लाल सृष्ट्यवस्था है । ये ही तीनों तत्त्व-महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती नाम से व्यवहृत किए जाते हैं । सृष्टि के पहले की अवस्था महाकाली है । इसी के लिए “आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।” यह कहा गया है । एवं शुक्ल मध्यमरूप है । यही सरस्वती है । इसी से मुक्ति मिलती है । सरस्वती अविद्या हटा देती है । अविद्या के हट जाने से अज्ञानान्धकार का विनाश हो जाता है, अतएव सरस्वती को शुक्ल कहा जाता है । एवं महालक्ष्मी संसार है । विद्या में जब अविद्या मिल जाती है तो इससे महालक्ष्मी का जन्म होता है । विद्या शुक्ल है-अविद्या कृष्ण है । दोनों के मेल से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है । इसीलिए महालक्ष्मी को हिरण्यवर्णा माना जाता है । यही संसार का स्वरूप है । लक्ष्मी रजोगुणा है, महाकाली तमोगुणा है, महासरस्वती सतोगुणा है । पूरी माया तीन अवस्थाओं में परिणत हो सारे ब्रह्माण्ड का संचालन करती है । वह महा अज-अर्थात् नित्य ब्रह्म-इन महामायाओं द्वारा-जिनका कि रूप कृष्ण-शुक्ल और लोहित है-नई-नई सृष्टियाँ नाना ब्रह्माण्ड-उत्पन्न कराया करता है, जो कि ब्रह्माण्डस सर्वथा समान हैं । सब में वही पञ्च-पुण्डरीक प्राजापत्यबलशा है इसीलिए श्रुति कहती है—“अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।” इति ।

(श्वेता. उप. ४।५)

अस्तु, प्रकृत में हमें यही कहना है कि रंग सफेद और काला-ये दो ही हैं । अन्य वर्ण इन दोनों के योग से उत्पन्न होते हैं । अव्यय-अक्षर-क्षर-

समष्टि का नाम आत्मा है। इसमें जो अक्षर है उसकी ब्रह्मा विष्णु-इन्द्रअग्नि-सोम-ये पाँच कलाएँ हैं। इन पाँचों में जो अग्नि और सोम हैं वे शुक्ल कृष्ण-दो पृथक्-पृथक् रूप उत्पन्न करते हैं। अग्नि से शुक्ल रूप उत्पन्न होता है, सोम से कृष्ण रूप उत्पन्न होता है। शुक्ल रूप का अधिष्ठाता अग्नि है, कृष्ण रूप का अधिष्ठाता सोम है। अतएव आग्नेयो अहः-सौम्या रात्रिः-यह कहा जाता है। रूप एक प्रकार की ज्योति का नाम है। यह ज्योति-स्वज्योतिः--रूपज्योतिः-परज्योतिः-भेदेन तीन प्रकार की है। सूर्य स्वज्योति है। यह भी अग्नि ही की महिमा है। सूर्य भी अग्नि ही का गोला है, अतएव "अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्य सहयो दिवि। दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः।" यह कहा जाता है। एवं चन्द्रमा पर ज्योति है। चन्द्रमा का जो प्रकाश है वह अपना नहीं है अपि-वु सूर्य का है जैसा कि श्रुति कहती है—"अत्राह गोरमन्यत नाम त्वष्टुरपी-च्यम्। इत्या चन्द्रमसो गृहे। (साम० पू० २।२)

यह भी अग्नि ही की महिमा है। एवमेव-पृथिवी आदि में जो एक प्रकाश है, उसे रूप-ज्योति कहते हैं। पार्थिव पदार्थों से-दीपादिवत्-प्रकाश नहीं होता परन्तु वे भासते हैं, अतएव इन्हें रूर-ज्योति शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह भी अग्नि की ही महिमा है। सूर्य रश्मियाँ-पदार्थ की बिन्दुपिण्ड पर पड़ती हैं, एवं वहाँ आक्रमण कर तदाकाराकारित बन कर प्रतिफलित होती हैं। वस, पदार्थाकाराकारित-प्रतिफलित जो सूर्य किंवा दीप रश्मियाँ हैं-वे ही रूपक पदार्थ स्वरूप ज्ञान की कारणभूता हैं। रूप भी शुक्ल है-चन्द्रमा भी शुक्ल है-सौर प्रकाश भी शुक्ल है-ये तीनों-अग्नि ही अग्नि हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि अग्नि का शुक्ल रूप है। एवं जो अप्रकाशित भाव है, उसी का नाम कृष्ण है। इसका जनक सोम है। सूर्य-अन्तरिक्ष और पृथिवी-इस रोदसी त्रिलोकी में तो अग्नि का राज्य रहता है एवं सूर्य से ऊपर परमेष्ठि मण्डल में सोम का राज्य रहता है। अग्नि से ऊपर सोम है। अग्नि-भूत-ज्योति का कारण है। यह सोम से नीचे है। अग्नि से ऊपर-अर्थात् सूर्य से ऊपर भूत-ज्योति का अभाव है अतएव सूर्य से ऊपर रहने वाले सोम को कृष्ण का जनक बतलाया है। एवं भूत ज्योति अग्नि से उत्पन्न होती है, अत-एव शुक्ल रूप को अग्नि-जन्य बतलाया है। कृष्ण-संकोचधर्मा है, शुक्ल

विकासधर्मा है। कृष्ण-सोम से उत्पन्न होता है, शुक्ल-अग्नि से उत्पन्न होता है। बस, इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

“अग्नीषोमौ पृथगिव रूपं जनयतः—शुक्लं च कृष्णं चेति ।” अग्नि काय्याविस्था है—सोम कारणावस्था है। सोम से अग्नि उत्पन्न होता है। कृष्णतत्त्व से शुक्लतत्त्व उत्पन्न होता है। अग्नि कभी सोता है—सुप्त अग्नि कभी जागृत होता है एवं थोड़ी देर में मर जाता है। अतएव मरण-धर्मत्वात् अग्नि को मृत्यु कहते हैं। पार्थिव पदार्थ अग्निमय हैं, आन्तरिक्ष्य पदार्थ वायु-मय हैं तथा द्युलोक के पदार्थ आदित्यमय हैं। पृथिवी-पर्वत-घर-घट-पट-वन-उपवन-वनस्पति-औषधि-धातु-उपधातु-रस-उपरस-इत्यादि-इत्यादि जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं—वे सब के सब-आग्नेय हैं। सब में अग्नि भरा हुआ है, परन्तु वह सुप्त है। वनों में अर्थात् वृक्षों में अर्थात् काष्ठों में अग्नि सो रहा है। यदि जरासा भी अन्य अग्नि का सम्बन्ध कर दिया जाता है तो वह सोता हुआ अग्नि जाग पड़ता है। वह थोड़ी देर तक प्रज्वलित रहता है बाद में बुझ कर राख हो जाता है, मर जाता है अर्थात् अपने प्रभव में चला जाता है। अतएव श्रुति कहती है—

“शेषे वनेषु मातृसु सन्त्वा भर्ता स इन्धते ।

अन्तन्दो हव्यं वहसि—आदिदेवेषु राजसे ।” इति ।

(ऋग्वेद मं. ८।६०।१५)

पहले अभिन्न था, अब उत्पन्न हो गया, थोड़ी देर बाद नष्ट हो जाता है; अतएव हम इस अग्नि को मरणधर्मा कहने के लिए तय्यार हैं।—“अग्निः सुप्तः कदाचिज्जागति—अथा म्रियते तस्मान्मृत्युः ।” एवं—सोम-अग्नि के ठीक विरुद्धधर्मा है अर्थात् अमृत है। अग्नि मृत्यु है तो सोम अमृत है। अमृततत्त्व व्यापक हुआ करता है। जो वस्तु व्यापक होती है उसे ही वैदिक भाषा में अमृत कहा जाता है।

“त्वमातनोसर्वान्तरिक्षम्”—इससे सोम का व्यापकत्व सिद्ध होता है, अतएव हम सोम को व्यापक कहने के लिए तय्यार हैं। सोम को आपेक्षिक अमृतत्व समझना चाहिए। अग्नि की अपेक्षा से सोम अवश्य ही अमृत है। सूर्य अग्नि पिण्ड है, इसके ऊपर सोम है। हम सोम-मण्डल को ही परमेष्ठि

मण्डल कहते हैं। सूर्य का नाश हो जाता है, परन्तु परमेष्ठी का नाश नहीं होता। सूर्य से नीचे के पदार्थ और स्वयं सूर्य मृत्यु है। एवं सूर्य से ऊपर के सोमादि जितने भी पदार्थ हैं—सब अमृत हैं। सूर्य ही अमृत और मृत्यु तत्त्व का विभाजक है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“सा या सा वा वाक् असौ स आदित्यः । स एष मृत्युः ।
तद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम् ।”

कहना यही है कि अग्नि की अपेक्षा पारमेष्ठ्य सोम अमृत है। एवमेव अग्नि भी दो प्रकार का है—चित्य और चितेनिधे। पिण्डाग्नि का नाम चित्याग्नि है। प्राणाग्नि का नाम चितेनिधे अग्नि है। यहाँ चित्य की अपेक्षा चितेनिधे अमृत है। एवं इन दोनों की अपेक्षा सोम अमृत है। “त्वमात्तनो सर्वोन्तरिक्षम् इति श्रुतेरयं सर्वव्यापी सोमो अमृतम् ।” आग्नेय वर्ण शुक्ल है—यह मर्त्य है—एवं वैकारिक है। अग्नि के नष्ट होते ही यह शुक्ल-रूप नष्ट हो जाता है, अतएव इसे हम वैकारिक और मर्त्य कहने के लिए तय्यार है। उजाले के लिए कोशिश करनी पड़ती है। दियासलाई जोनी (जलानी) पड़ती है। प्रकाश भाव साध्य है, परन्तु कृष्ण के लिए यह बात नहीं है। उसके लिए भाव की आवश्यकता नहीं। अंधेरे के लिए कोशिश नहीं करनी पड़ती। प्रकाश हटा कि अंधेरा मौजूद है। अतएव कृष्ण-तत्त्व को हम नित्य कहने के लिए तय्यार हैं। शुक्ल रंग नष्ट हो जाता है, कृष्ण रंग नष्ट नहीं होता, अतएव कृष्ण को हम अमृत कहने के लिए तय्यार हैं। “आग्नेयो वर्णः शुक्लः । स मर्त्यः वैकारिकत्वात् । अग्निक्षयमनुक्षयत्वाच्च ।” अग्नि जब तक रहता है तभी तक पदार्थ सत्ता रहती है। अग्नि के नष्ट होते ही पदार्थ-स्वरूप नष्ट हो जाता है। रूप-ज्योति तभी तक रहती है जब तक कि अग्नि की स्थिति रहती है। पुस्तक में जो सुप्त अग्नि है उसे अन्याग्नि सम्बन्धेन जगा दीजिए, अभी पुस्तक का स्वरूप नष्ट हो जाएगा। एवं सौम्यवर्ण कृष्ण है यह अविनाशी होने के कारण अमृत है—“अथ सौम्यो वर्णः कृष्णस्तदमृतम् ।” शुक्ल रंग भी तीन प्रकार का है, कृष्ण रंग भी तीन प्रकार का है। सौर-प्रकाश पहला शुक्ल रंग है, वह सर्वथा अनिरुक्त है। उसका प्रत्यक्ष करते हुए भी

वर्णन नहीं हो सकता । दूसरा शुक्ल रंग है—सफेद वस्त्र का । सफेद वस्त्र का जो रंग है वह भी रंग नहीं कहा जा सकता । रंग वह कहलाता है जो कि रंजित हो जाय । दूसरे से मिलकर तीसरे स्वरूप में परिणत हो जाय । यह बात वस्त्र में नहीं है । सफेद वस्त्र को चाहे जैसे रंग से रंग दीजिए, वह उस रंग से मिल कर आसक्त नहीं हो सकता । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि सफेद पर लाल रंग रँगो तो लाल ही रहेगा, पीला रँगो तो पीला ही रहेगा । यदि वह सफेद भी रंग होता तो उस ऊपर से रँगे जाने वाले रंग के साथ मिलते ही तीसरा रूप धारण कर लेता, क्यों कि विजातीय दो रंगों के मेल से दोनों का स्वरूप नष्ट हो जाता है एवं तीसरा अपूर्व रंग उत्पन्न हो जाता है । इसीलिए पृथिवी में गन्धाभाव बतलाते हुए पदार्थ—विद्या के आचार्य महर्षि कणाद कहते हैं—

**“पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धा-
भावालिङ्गम् ।”**

चूँकि सफेद वस्त्र पर जैसा रंग चढ़ाओ, वैसा ही चढ़ जाता है, अतः एव हम इस शुक्ल रंग को रंग कहने के लिए तय्यार नहीं । जो दूसरे से मिल कर रंजित हो जाता है, वही रंग कहलाता है । चूँकि यह रंजित नहीं होता अतएव यह रंग नहीं । वस्त्र का सफेद रंग रंजित नहीं होता—इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि रँगे हुए वस्त्र को धोबी उसी समय सफेद निकाल देता है । धोबी नया रंग नहीं चढ़ाता अपितु उस आवरण को हटा देता है ।

तीसरा सफेद रंग वास्तविक रंग है । सफेदा-कली-इत्यादि जो रंग हैं वे वास्तव में रंग हैं । चूने के साथ दूसरे रंग को मिलाते ही तीसरे रंग का उदय हो जाता है । अब आप उस सफेद रंग को वस्त्रवत् नहीं पा सकते । अतएव यह रंग वास्तव में रंग है ।

एवमेव काला रंग भी तीन प्रकार का है । रूपजगदभावस्वरूप जो वर्ण है, वह भी काला ही है । इसी के लिए ‘आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमल-
क्षणम्’—यह कहा जाता है । दूसरा है—केवल-ज्योतिरभाव कृष्ण । आँख

मीलित करने पर जो काला रंग है—रात्रि का जो काला रंग है—वह दूसरा कृष्ण वर्ण है । एवं जो तीसरा कोयला वगैरः का रंग है, वह निरुक्त कृष्ण है जिसका कि स्वरूप आगे जा कर विस्तृतरूपेण बतलाया जाएगा । यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि अग्नि से शुक्ल रूप उत्पन्न होता है एवं वह विनाशी है, मृत्यु स्वरूप है । सोम, कृष्ण का जनक है—यह नित्य है, अतएव अमृत-पद वाच्य है । कृष्ण ही पूर्व रूप है, कृष्ण ही उत्तर रूप है और शुक्ल मध्य रूप है । सृष्टि के पहले भी काला ही रहता है, सृष्टि के बाद भी काला ही रहता है एवं सृष्टि के मध्य में शुक्ल रहता है । शुक्ल से प्रकाश अभिप्रेत नहीं है अपितु विकसित भाव ही अभिप्रेत है । जो कोयला है, उसे हम कृष्ण नहीं कहेंगे । क्योंकि वह प्रकाशित हो रहा है, उसका स्वरूप हम आँखों से देख रहे हैं । एवमेव जो रात्रि का अन्धकार है—आँख मीचने के बाद का अन्धकार है, वह भी प्रकृत में कृष्ण नहीं है क्योंकि इसका भी प्रत्यक्ष हो रहा है । दोनों का प्रत्यक्ष हो रहा है, दोनों सृष्टि की वस्तु हैं । दोनों ही भासते हैं, अतएव दोनों को हम 'कृष्ण' नहीं कह सकते । उपास्य कृष्ण—वही-विश्वातीत कृष्ण है, जो कि इन्द्रियागोचर है । उसी अव्यक्त सत्य कृष्ण से यह व्यक्त जगत् उत्पन्न होता है, एवं उत्पन्न होकर यह व्यक्त जगत् उसी पर प्रतिष्ठित रहता है; एवं अन्त में सारा व्यक्त (शुक्ल) जगत् इसी अव्यक्त में लीन हो जाता है । अव्यक्त ही व्यक्त बन जाता है । अन्त में प्रतिसंचर क्रम में वह व्यक्त वापस अव्यक्त बन जाता है । आदि में अव्यक्त है—अन्त में अव्यक्त है—मध्य में व्यक्त—इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

“अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥” इति ॥

(गीता २।२८)

अव्यक्त का नाम ही कृष्ण है । यही आदि में है—यही अन्त में है । बीच में व्यक्त तत्त्व है अर्थात् शुक्ल तत्त्व है । इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—“कृष्णः पूर्वरूपम् कृष्ण-उत्तररूपम् । शुक्लो मध्यमरूपम्” ।

पूर्व में कृष्ण है—उत्तर में कृष्ण है—मध्य में शुक्ल है । इससे कहीं यह न समझ बैठना कि मध्य में कृष्णाभाव है । नहीं, नहीं—जो शुक्ल है उसमें

भी कृष्ण अन्तःप्रविष्ट है । जिसे आप शुक्ल समझ रहे हैं, उसमें भी कृष्ण बैठा हुआ है । अव्यक्त से व्यक्त हुआ है । अव्यक्त ने व्यक्त को उत्पन्न किया है । उत्पन्न कर वह उसके केन्द्र में प्रविष्ट हो गया है । इसीलिए तो 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—यह कहा जाता है । विश्व, विश्वात्मा बिना रह ही कैसे सकता है ? उसी के आधार पर विश्व टिका हुआ है । अव्यक्त का नाम अमृत है । व्यक्त का नाम मृत्यु है । मृत्यु क्रिया-स्वरूप है । क्रियामय विश्व की स्थिति तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि उसका कोई निष्क्रिय आधार न मान लिया जाए । परिवर्तनीया क्रिया के लिए अवश्य ही अपरिवर्तनीय आलम्बन मानना पड़ता है । अतएव हम कह सकते हैं कि उस शुक्ल में वही अव्यक्त सत्यकृष्ण अन्तःप्रविष्ट है । यह तो हुई सृष्टि की बात; अब चलिए—उस शुक्लरूप की तरफ जिसे आप शुक्ल समझते हैं, जो शुक्ल-प्रकाश-उजाला इत्यादि नामों से व्यवहृत होता है । आप समझते होंगे कि इस प्रकाश में अँधेरा नहीं है, परन्तु यह आपकी मूल है । अवश्य ही उस प्रकाश के अन्दर अँधेरा बैठा हुआ है । इसमें यही प्रमाण है कि एक अँधेरी कोठरी में आप एक दीपक ले जाइए, उसी समय, वहाँ उजाला हो जाएगा । बाद में फिर एक बिजली की लालटेन ले जायी जाए तो पहले से अधिक उजाला होगा । यहाँ तक कि आप ज्यों-ज्यों लालटेनों की मात्रा बढ़ाते जाएँगे, त्यों-त्यों प्रकाश अधिकाधिक बढ़ता जाएगा । अब हमारा आपसे प्रश्न है—बतलाइए, यदि दीपक से-प्रकाश से-अन्धकार नष्ट हो जाता है तो फिर अन्य दीपकों से प्रकाश अधिक क्यों हुआ ? अन्धकार, प्रकाश से हटता है, एवं अतिरिक्त दीपकों से प्रकाश अधिक होता है । अतएव मानना पड़ता है कि अन्धकार नष्ट नहीं होता अपितु आवृत हो जाता है । अन्धकार, प्रकाश से आवृतमात्र हो रहा है । प्रकाश की क्या ताकत है, जो उसे नष्ट कर दे ? इसीलिए कहा जाता है—

“न हि ध्वान्तमीदृक् न यत्र प्रकाशः प्रकाशो न तादृग् न यत्रा-
न्धकारः । तमो वा प्रकाशोऽपि वा यत्र तत्र प्रतोमस्ततोऽपि प्रकर्षात्
प्रकर्षम् ।”

कहना प्रकृत में हमें यही है कि—जब मध्य के शुक्ल रूप में कृष्ण रूप अन्तःप्रविष्ट हो रहा है, शुक्ल से केवल वह कृष्ण तत्त्व आवृतमात्र कर दिया

जाता है । इसीलिए 'योगमाया समावृतः' कहा गया है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

“शुक्लस्याप्यन्तरतुः कृष्णो नापहीयते शुक्लेन तु केवलमा-
व्रियते इति बोध्यम् ।”

बात सच है, जिस दिन कृष्ण वर्ण शुक्ल में से निकल जाएगा उस दिन शुक्ल, शुक्ल ही न रहेगा । सोम-कृष्ण है, अग्नि-शुक्ल है । अग्नि की शुक्लता तभी तक है, जब तक कि इसके साथ सोम का सम्बन्ध है । अध्यात्म-प्रकाश और अधिदैवत-प्रकाश-दोनों में यही बात है । शरीर का अग्नि तभी तक स्थिर रहता है जब तक कि उसमें सोमाहुति अर्थात् अन्नाहुति होती रहती है । जब तक अन्न की आहुति रहती है तभी तक शरीरस्थ अग्नि प्रज्वलित रहता है । एवमेव प्रकृतिमण्डल पर लक्ष्य दीजिए—वहाँ भी यही बात है । सूर्य अग्नि का गोला है उसी से प्रकाश हो रहा है; मगर किससे ? सोम से ! पारमेष्ठ्य सोम अर्हन्निश इसमें आहुत हो रहा है । जिस दिन सोम की आहुति बन्द हो जाएगी, उसी दिन अग्नि का प्रकाश नेस्तनाबूद हो जाएगा । कृष्ण की सत्ता से सारा शुक्ल विश्व सत् हो रहा है । जिधर देखो, उधर भगवान् कृष्ण है ।

बस, इसी का—इसी अव्यक्त तत्त्व का—इसी ब्रजविहारी का—हम स्वरूप बतलाएँगे । “ब्रजं गच्छ गोष्ठानम्”—इस श्रुति से निर्दिष्ट पारमेष्ठ्य गोलोक में विहार करता हुआ—वास्तव में—यह अपने ‘ब्रजविहारी’ नाम को सार्थक कर रहा है । यह कृष्ण तीन प्रकार के हैं । तीन तरह से इनके दर्शन होते हैं । निरुपाख्य भावेन—प्रतिरुक्त भावेन—एवं निरुक्त भावेन । सर्व-विषय-ज्ञान-भाव स्वरूप जो सत्त्व है वही अनुपाख्य कृष्ण है । सारे पदार्थों को नेति-नेति करते चले जाओ—बस जो बाकी बच जाए वही अनुपाख्य-कृष्ण है । उस तम का नाम अनुपाख्य कृष्ण है, जो कि सर्वपदार्थाभाव स्वरूप है । जब कि कुछ न था—उस समय जो था—वही अनुपाख्य कृष्ण है । बृहत्तरत्वं किंवा स्वरूपत्व दोनों ही लक्षणों से अविज्ञेय है—शास्त्राननधिकृत है, अतएव उसे अनु-पाख्य-कृष्ण कहा जाता है । समझ में नहीं आता, अतएव उसे कृष्ण कहा

जाता है । समझ में आए भी कैसे, जब कि विश्वातीत तत्त्व है ? हम तो विश्व में हैं । भला-हमारी क्या सामर्थ्य, जो उस विश्वातीत को पहचानें ? अतएव वह 'अनुपाख्य' कहलाता है । दूसरा है—'अनिरुक्त कृष्ण' । प्रकाशाभावस्वरूप जो कृष्ण है, वही अनिरुक्त कृष्ण कहलाता है । रात्रि का अन्धकार—आँख मींचने पर दीखता अन्धकार—समझ में आता है, परन्तु अनिरुक्त है । उसका स्वरूप समझते हुए भी कहने में नहीं आता । रात्रि के कृष्ण को खूब देखते हैं, परन्तु पकड़ नहीं सकते, न उसका वर्णन ही कर सकते हैं । अनुपाख्य कृष्ण—सर्व पदार्थाभाव स्वरूप था एवं यह अनिरुक्त कृष्ण केवल ज्योतिरभाव-स्वरूप है ।—

तीसरा कृष्ण वह है जो कि काला रंग कहलाता है, इसे हम हाथ से भी पकड़ सकते हैं । इसका स्वरूप बतला सकते हैं, अतएव इसे हम 'निरुक्त कृष्ण' कहने के लिए तय्यार हैं । बस, कृष्ण ब्रह्माण्ड भर में तीन ही प्रकार का है—

“स एष कृष्णस्त्रिविधो निष्कृष्यते—निरूपाख्योऽनिरुक्तो निरुक्तश्चेति ।”

इन तीनों में से सर्वप्रथम निरूपाख्य कृष्ण का स्वरूप बतलाया जाता है—

जिसे सत्ता कहा जाता है—वह सत्ता आक्रान्त और अनाक्रान्त भेदेन दो प्रकार की है । कारण से कार्योत्पत्ति हो जाने पर वही आत्मसत्ता अर्थात् कारणसत्ता—जो कार्यपर्यन्त व्याप्त होती है—वही सत्ता—आक्रान्तासत्ता कहलाती है । उदाहरणार्थ—मृद्-घट-सुवर्ण-कटकादि । मिट्टी, सुवर्ण और सूत्र क्रमशः घट-कटक-वस्त्र के कारण हैं । मिट्टी से घड़ा बनता है । सुवर्ण से कटक—कुण्डलादि आभूषण बनते हैं । सूत्र से वस्त्र बनते हैं । घट-कटकादि कार्य हैं—मिट्टी, सुवर्णादि कारण हैं । यहाँ पर जो कारण का अस्तित्व है, वह कार्य तक आक्रान्त हो रहा है । यही मिट्टी की सत्ता—घट को पेट में ले कर वहाँ तक व्याप्त हो रही है । मिट्टी की सत्ता से घड़ा सत् है । यदि मिट्टी को नष्ट कर दिया जाए तो घड़ा तत्काल नष्ट हो जाए । इसी आक्रान्ता

सत्ता को स्व-प्रतिष्ठा भी कहा जाता है । एवमेव सुवर्ण ही कटक-कुण्डलादि बने हुए हैं । कटक है-कुण्डल है-नूपुर है-इत्यादि में जो "है" है-अर्थात् सत्ता है, वह सुवर्ण की अर्थात् कारण की सत्ता है । कारण की सत्ता ही कार्य की सत्ता बन रही है । वही कारण-सत्ता कार्य तक आक्रान्त हो रही है, अतएव इस सत्ता को हम आक्रान्त-सत्ता कहने के लिए तय्यार हैं—

“कारणात् कार्योत्पत्तौ सत्यामात्मसत्तायाः कार्यपर्यन्त-मनुग्रहणमाक्रान्ता ।”

विषयावच्छिन्न सत्ता का नाम ही-आक्रान्ता सत्ता है । एवं कार्यानु-दयावस्था में-स्व-स्वरूप में-अवस्थित जो नित्य सत्ता है, उसे ही अनाक्रान्ता सत्ता कहते हैं । मिट्टी से जब तक घड़े उत्पन्न नहीं हुए हैं तब तक जो मिट्टी की अपनी सत्ता है, वही अनाक्रान्ता सत्ता कहलाती है । इसी प्रकार सर्वविष-याभावयुक्ता जो शुद्धसत्ता है उसे ही हम अनाक्रान्ता सत्ता कहेंगे । उसी सत्ता से कार्य-विश्व उत्पन्न होता है । जब तक वह उत्पन्न नहीं हुआ है-तब तक जो सर्वोपाधिविनिर्मुक्ता शुद्ध सत्ता है, वह “अनाक्रान्ता” कहलाती है । सर्व-पदार्थाभावयुक्ता, स्वस्वरूपेणावस्थिता-नित्या सत्ता ही ‘अनाक्रान्ता सत्ता’ कह-लाती है—“कार्यानुदयो मात्र विश्रान्तास्वरूप नित्या-‘अनाक्रान्ता’—

इस प्रकार सत्ता कुल दो ही तरह की हैं । इन दोनों में से-कार्या-मात्रानुदयाक्रान्तसत्ता व्यधिकरण जो ज्ञान है-वही निरुपाख्य कृष्ण कहलाता है । कार्यमात्र से सारा विश्व ही अभिप्रेत समझना चाहिए । जबकि-उस कारण से-कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है । सर्वविषयानुदय है, उससे आक्रान्त जो सत्ता है, वह वस्तुतः अनाक्रान्ता ही होगी । सर्वविषयाउदयाक्रान्ता-सत्ता-सर्वविषयानाक्रान्ता कहलाती है । एवं सर्व विषयोदयाक्रान्ता सत्ता-आक्रान्त सत्ता कहलाती है । इन दोनों सत्ताओं में से सर्व-विषयानुदयाक्रान्ता जो सत्ता है-अर्थात् सर्व विषयाभावस्वरूपिणी जो सत्ता है-उससे व्यधिकरण सम्बन्धेन युक्त जो ज्ञान है वही निरुपाख्य कृष्ण है । ज्ञान में यदि सत्ता सामानाधिकरण्येन रहती है तो वह ज्ञान अनुपाख्य नहीं रहता-उपाख्य हो जाता है-अतएव व्यधि-करण कहा है । व्यधिकरण में सत्ता का रहना भी नहीं रहना है । ज्ञान स्वयं

असत् है । सत्तया ज्ञान सत् होता है एवं सत्-उपाख्य वस्तु है, वह अनिरुक्त कृष्ण नहीं है । अनिरुक्त कृष्ण वह है जो कि असत् है । यह असत् तभी रह सकता है जब कि इसके साथ सत्ता का सामानाधिकरण्य न हो । बस, इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

“तत्र कार्यमात्रानुदयाक्रान्त सत्ता व्यधिकरणं ज्ञानं निरुपाख्यः कृष्णः ।”

निःस्वरूप-निर्लक्षण-निरावरण जो तत्त्व होता है वही निरुपाख्य कहलाता है । लम्बा है, ओछा है—ऊँचा है—नीचा है—यह लक्षण कहलाता है । पुरोऽवस्थित वृक्ष की लम्बाई इतनी है—ऊँचाई इतनी है—ये उसके लक्षण कहलाएँगे । एवं इधर से पूर्व है—उधर से पश्चिम है—इस प्रकार जो दिग्-देश-कालावस्था है, वह स्वरूप कहलाएगा । एवं आवरण प्रसिद्ध ही हैं । इन तीनों से रहित जो तत्त्व है, वही निरुपाख्य कृष्ण है । स्वरूप-लक्षण भी उसमें लागू नहीं है—इसीलिए तो ‘निःस्वरूपम्’—कहा गया है । एवं—वह तटस्थ लक्षण से भी अविज्ञेय ही है, अतएव ‘निर्लक्षणम्’ कहा गया है । ऐसा जो सत्ता व्यधिकरण ज्ञान है, वही निरुपाख्य कृष्ण है—

“निःस्वरूपं निर्लक्षणं निरावरणं निरुपाख्यम्”

हमने सत्य कृष्ण रहस्य के प्रारम्भ में ही रस और बल ये दो तत्त्व बतलाए हैं । रस—अमृत का नाम है, बल—मृत्यु का नाम है । इन बलों का सम्बन्ध कुल दो ही प्रकार का है । यद्यपि सम्बन्ध तो अनन्त हैं, परन्तु मोटे-मोटे सम्बन्ध दो ही हैं । एक सम्बन्ध का नाम है—सहचर-सम्बन्ध, दूसरे सम्बन्ध का नाम है—चिति-सम्बन्ध । चिति—सम्बन्ध से सृष्टि होती है । बलों से ग्रन्थि-बन्धन होता है—इसी का नाम विश्व है । एवं सहचर-सम्बन्ध से मुक्ति होती है, इसी का नाम विश्वाभाव है । इन सारे बलों से—अमृत-रस में जब चिति सम्बन्ध का अभाव हो जाता है तो उस समय जो शुद्ध सत्ता, भाति और आनन्द बच जाते हैं, वही अनुपाख्य कृष्ण है । महामायावाञ्छित-जो चिति सम्बन्धा-भावयुक्त-शुद्ध अव्यय है—वही कृष्ण है ।—अथवा—यदि चिति सम्बन्ध रहे भी, तो रसतः सारे बलों को पृथक् करके—जो सत्ता-आनन्द-भाति बच जाती है—वही अनुपाख्य कृष्ण है ।

तात्पर्य यह है कि चित्ति सम्बन्धाभाव युक्त जो रस है—अथवा-चित्ति सम्बन्ध हो जाने पर भी—बुद्ध्या-सारे बलों से पृथक्-भावित जो अमृत-रस है—शुद्ध अव्यय है, जिसमें सत्ता-भाति एवं आनन्द मात्र शेष रह जाता है—वही सत्य-कृष्ण है।

चित्ति-सम्बन्ध हो जाने पर बलों में ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है। इस ग्रन्थि बन्धन से तदाधारभूत जो शुद्ध रस है वह आवृत हो जाता है—अतएव चित्तिविशिष्ट इस सत्यकृष्ण को हम निरुपाख्य-कृष्ण कहने के लिए तय्यार नहीं। अपितु जब बलों में चित्ति सम्बन्ध नहीं होता है, अपितु सारे बल सह-चरभाव से रहते हैं—उस समय जो शुद्ध सत्तामात्र-भातिमात्र-आनन्दमात्र बचता है—वही अनुपाख्य-कृष्ण है। सर्वबलचित्तिसम्बन्धाभावयुक्त जो सत्ता-चेतना-आनन्द है—वही अनुपाख्य कृष्ण है। परात्पर को हम कृष्ण नहीं कहेंगे, क्यों कि वहाँ सत्ता-चेतना-आनन्द-ये तीन भाव नहीं हैं। एक तरह से देखा जाए—तो सर्व-बल-चित्ति सम्बन्धाभावस्वरूप जो अमृत-तत्त्व है, वह परात्पर ही हो जाता है। यह तो हुई चित्तिसम्बन्धाभाव की कथा। अब चित्ति-सम्बन्ध युक्त रस की ओर चलिए। कल्पना कर लीजिए—बलों में चित्ति सम्बन्ध हो गया है। बलों में खूब ही ग्रन्थि-सम्बन्धन हो गया है। इतना होने पर भी रस वहाँ आसक्त नहीं हो पाता। बलों में रात-दिन रहने पर भी रस का कुछ नहीं बिगड़ता जैसे कि रात-दिन पानी में रहने पर भी प्रतिबिम्ब का-कमल का-कुछ नहीं बिगड़ता। इसीलिए—

“न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योममैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥”

(गीता ९।५)

यह कहा जाता है। इस प्रकार चित्ति सम्बन्ध हो जाने पर भी जो रसतः अर्थात् रसत्वेन बुद्ध्या-क्लृप्त जो सत्तामात्र-भातिमात्र-आनन्द-मात्र बचते हैं, वही निरुपाख्य कृष्ण है। सर्वपदार्थाभाव-स्वरूप शुद्धसत्तानन्द को ही निरुपाख्य कृष्ण कहते हैं। जो शुद्धसत्ता-शुद्धज्ञान-शुद्धआनन्द हैं—उसका न प्रत्यक्ष हो सकता है और न निर्वचन ही किया जा सकता है। स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण दोनों ही का मार्ग यहाँ पर बन्द हो जाता है, अतएव इस

विश्वातीत-सर्वकार्याभाव-शुद्धकारणतत्त्व को सर्व विषयानुदयाक्रान्त-सत्ता-व्यधिकरण ज्ञान को हम-निरुपाख्य-कृष्ण कहने के लिए तय्यार हैं । इसी अभि-प्राय से भाष्यकार कहते हैं—

“बलानामशेषाणां भावानाममृतेः चित्यभावाद्वा (चितिः-अभावाद्वा)—रसतः पृथक्त्वोपपादाद्वा यदिदं सत्तामात्रं भाति-मात्रमानन्दमात्रावशिष्यते—‘तदनुपाख्यं रूपम् ’ ॥

जिसमें सत्ता रहती है, वह सत्तावान् कहलाता है । जिसमें ज्ञान रहता है, वह ज्ञानवान् कहलाता है । जिसमें आनन्द रहता है, वह आनन्दवान् कहलाता है । सत्तावाला सत् कहलाता है । सत्ता में क्यों कि सत्ता नहीं रहती अतएव वह असत् कहलाती है । ज्ञान में भी ज्ञान नहीं रहता, अतएव ज्ञान भी प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा असत् है । सत्ता से ज्ञान सत् होता है । घट-पट-स्वरूप-सत्ता का जब ज्ञान में प्रवेश होता है, तब जाकर ‘ज्ञायते’—यह प्रत्यय होता है । ‘अहं जानामि’—इस ज्ञान-स्वरूप का उदय विषय-सत्ता पर निर्भर है । निर्विषयज्ञान है, वह सर्वथा अनुभवात्मक है, अतएव उमे हम “असत्” कहने के लिए तय्यार हैं । एवमेव आनन्द में आनन्द नहीं रहता-विषय सम्बन्धेन आनन्द का उद्बोधन होता है । किसी सत्तात्मक वस्तु से आनन्द आया करता है । दधि-मधु-घृतादिस्वरूप जो विषय है, उससे आनन्द आता है । जो सर्वविषयाभावस्वरूप-आनन्द है, वह तो शुद्धसत्ता-शुद्धज्ञानवत् अननुभवात्मक ही है । अतएव ऐसे आनन्द को भी हम असत् कहने के लिए तय्यार हैं । यह जो निरुपाख्य कृष्ण है, यह वास्तव में ऐसा ही है । सर्वजगद्वस्तु का जो अभाव है, वही अनुपाख्य कृष्ण है । उस समय के जो शुद्ध सत्ता शुद्ध-ज्ञान-शुद्ध आनन्द हैं वे वान्-संपत्ति (विषयी) से सर्वथा शून्य हैं । इन तीनों से अलग जब विषय हों तब न यह निरुपाख्य कृष्ण सत्तावत्-भातिमत्-आनन्दमत् कहलाए । जब कि कोई विषय ही नहीं है तो फिर कैसे सत्तावत् आदि व्यवहार हो सकता है ? जब सर्वथा असत् है तो वह तत्त्व कैसे उपाख्य बन सकता है ? अतएव इस अभावमात्र स्वरूप-कृष्ण के लिए महर्षि ‘नेति-नेति’ कहा करते हैं । महर्षि कहते हैं कि यदि उस सत्यकृष्ण को पहचानना चाहते

हो तो उसकी सीधी तरकीब यही है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थों पर अंगुली रखते जाओ, और (उन्हें) इति न—इति न कहते जाओ। इस प्रकार न-न करते-करते सारे पदार्थों के बाद जो अभाव बच जाए—समझलो—वही सत्य-कृष्ण है। सर्वजगदभावस्वरूप जो विश्वातीत शुद्धतत्त्व है, वही ब्रह्म है। वह अभाव—स्वरूप है, प्रत्यक्षातीत है, अतएव हम उसे 'कृष्ण' कहने के लिए तय्यार हैं। इसी तत्त्व के लिए—अनुपाख्य-कृष्ण के इसी स्वरूप को बतलाने के लिए—'असदेवमग्र आसीत्' यह कहा जाता है। सृष्टि के पहले क्या था? इसका उत्तर मिलता है—सृष्टि के पहले असत् ही था। उसी असत् से सत् उत्पन्न हुआ है। वह तत्त्व शुद्ध-ज्ञान-सत्ता-आनन्द स्वरूप है, अतएव तीनों को हम असत् कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

“नेदं सत्तावद्वा-भातिमद्वा-आनन्दमद्वा । अतएवाहुरभाव-मात्रं-तन्नेति-नेति इति । असदेवेदमग्र आसीदिति च । इति ॥”

‘असदेवेदमग्र आसीत्’ इस श्रुति में—‘असत्’ कहा गया है। इससे कहीं ‘तुच्छ’ के चक्र में मत पड़ जाना। असत् का अर्थ है—कुछ नहीं—असत् तुच्छ-पदार्थ है—यह असत् का अर्थ मत समझ बैठना। निरुपाख्य-असत्-कृष्ण तुच्छ नहीं है। सत्ता-भाति-आनन्द-शून्य जो सर्वथा नीरस बल है वही ‘तुच्छ’ कहलाता है। मिट्टी के बिना जैसे घड़ा कोई चीज नहीं है; सोने के बिना जैसे कटक-कुण्डलादि कोई वस्तु नहीं है, सूत्र के बिना जैसे वस्त्र की कोई सत्ता नहीं है, एवं ये रस-शून्य जो बल हैं, वे सर्वथा तुच्छ है। बिना रस के बल तीन कौड़ी की चीज है। बल के स्वरूप को सुरक्षित रखने वाला रस ही है। रस ही बल की प्रतिष्ठा है। बिना रस के कोरा बल नहीं के बराबर है अतएव वैज्ञानिक महर्षि लोगों ने इसका नाम ‘तुच्छ’ रख दिया है। एवं इस तुच्छ का अर्थात् बल का जो आधार रस है जिसे कि हमने ‘असत्’ कहा है—उसे ‘आभू’ शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह रस आसमन्तात् व्याप्त हो रहा है, एक बिन्दु भी रस से खाली नहीं है, अतएव ‘आसमन्ताद् भवति’ इस व्युत्पत्ति से—इस रस को—‘आभू’ कहा जाता है। जब तक तुच्छ अर्थात् बल सुप्त रहता है, तब तक आभू उल्लङ्घन रहता है। परन्तु मायादिबलों के कारण

सुप्त बल जब जागृत हो जाता है तो वह आभू-दब जाता है । आवृत हो जाता है । योगमायाएँ 'आभू' स्वरूप को आवृत कर लेती हैं । सृष्टि के प्रारम्भ होते ही वह 'आभू'-बल से अर्थात् तुच्छ से आवृत हो जाता है । उसी प्रारम्भिक सृष्टि-क्रम को बतलाने के लिए—

“तुच्छेनाभवपिहितं यदासीत्” यह कहा जाता है । प्रकृत में यही बतलाना है कि जिसे हमने असत् तत्त्व बतलाया है—उसे 'तुच्छ' नहीं समझ लेना चाहिए । 'असत्' शब्द के भ्रम में पड़ कर असत् को तुच्छ नहीं समझना चाहिए । सत्ता में सत्ता नहीं रहती एवं वह निरुपाख्य कृष्ण शुद्ध सत्ता-स्वरूप है अतएव उसे असत् कह दिया जाता है । वस्तुतः देखा जाय तो वह सत्ताघन है—चिद्घन है—आनन्दघन है । सर्वरसाभावस्वरूप जो बल है, वह तुच्छ कहा जाता है । भला ऐसी अवस्था में—सत्ताघन-चिद्घन-आनन्दघन-असत्-निरुपाख्य कृष्ण को तुच्छ क्यों कर कहा जा सकता है ?—

“न चैतावता तत्तुच्छमिति भावयेत् । सत्ताभातिभ्यामानन्देन च शून्यस्य नीरसस्य बलस्य तुच्छत्वेनाभ्युपेयत्वात् ।”—

सर्वजगदभावस्वरूप जो निरुपाख्य तत्त्व है, वही, वास्तव में, कृष्ण कहलाने लायक है । जो अनिरुक्त कृष्ण और निरुक्त कृष्ण है; उन्हें हम कृष्ण नहीं कह सकते । कृष्ण से काला रंग अभिप्रेत नहीं है अपितु जो न भासे—जो इन्द्रियागोचर हो वही सत्यकृष्ण है । रात्रि के अन्धकार को तथा आँख मीचने पर जो अन्धकार हो जाता है उसको—हम अनिरुक्त कहते हैं, एवं जो कोयला आदि रंग है, उसे निरुक्त कृष्ण कहते हैं । ये—अनिरुक्त और निरुक्त-दोनों ही इन्द्रिय-व्यापार-सापेक्ष हैं । इन दोनों ही का हमें आँख से प्रत्यक्ष होता है । दोनों भासते हैं । भासने का नाम ही तो शुक्ल रूप है, ऐसी अवस्था में हम इन दोनों को कृष्ण कहने के लिए हर्गिज तय्यार नहीं । अनिरुक्त-कृष्ण अर्थात् ज्योतिरभावतम और निरुक्त-कृष्ण-दोनों विश्व के अन्तर्गत हैं, अतएव दोनों ही शुक्ल हैं । ऐसी अवस्था में इन दोनों को 'कृष्ण' क्यों कर कहा जा सकता है ?---

इस प्रकार—यद्यपि-निरुक्त और अनिरुक्त कृष्ण को इन्द्रिय-व्यापार सापेक्ष होने से कृष्ण नहीं कहा जा सकता तथापि इस शुक्ल विश्व के अग्नि विकास स्वरूप होने से—इस विश्व की अथवा अग्नि की अभावदशा में जो दिक् सोमरूपा रात्रि है, उसे नहीं हटाया जा सकता । अग्नि और सोम, सारे विश्व में, इन दोनों ही का राज्य है—यह बात पूर्व के प्रकरण में बतला दी गई है । अग्नि, मृत्यु है—सोम, अमृत है । यह सोम दिक् और भास्वर भेदेन दो प्रकार का है । चन्द्रमा सोम का पिण्ड है । इसीलिए तो—

“एतद्वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः”—यह कहा जाता है । यह सोम भास्वर सोम कहलाता है । चन्द्रमा सोम का प्रत्यक्ष होता है, वह आँखों से दीखता है, प्रकाशमान है, अतएव इसे हम ‘भास्वर-सोम’ कहने के लिए तय्यार हैं । विश्व में यही सोम रहता है । रहता है दिक् सोम भी । परन्तु सृष्टि-क्रिया में-भास्वर-सोम का ही उपयोग होता है । औषधिवनस्पत्यादि का निर्माण-इसी भास्वर-सोम से होता है । इसीलिए कहा जाता है—“एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः । स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तात् पश्चाद्दृशे-तदिमंलोकमागच्छति । स इहैवापश्च-औषधीश्च प्रविशति ।”

दूसरा सोम है दिक् सोम । इसी के लिए—‘त्वमातनो सर्वाऽन्तरिक्षम्’ कहा जाता है । यही अमृतसोम है—यही नित्य है । यह विश्व अग्नि-स्वरूप है । अग्नि, विकासधर्मा है—यह विश्व भी विकासधर्मा ही है, अतएव हम इस विश्व को अग्नि-स्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं । जिस समय विश्व नहीं रहता है—प्रलय हो जाता है, उस समय-अग्निज्योतिरभावस्वरूप दिक्-सोम तो अवश्य ही रहता है । विश्व का नाम दिन है—प्रलय का नाम रात्रि है । वह रात्रि-ज्योतिरभावस्वरूप है । अग्नि-विकासभावस्वरूप है । विश्व, अग्निमय है अतएव हम इसे ज्योति कहने के लिए तय्यार हैं । जब अग्नि नष्ट हो जाता है तो प्रकाशाभावस्वरूप—दिक् सोमस्वरूपा रात्रि रह जाती है । इसे ही “महारात्रि” कहते हैं । रात्रियाँ तीन प्रकार की हैं—कालरात्रिः—महारात्रिः—मोह-रात्रिः । इन्हीं के लिए—

“कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा”—यह कहा जाता है। इनमें जो अनुपाख्य कृष्ण है—सर्वजगदभावस्वरूप-तम है—उसके लिए—कालरात्रि कहा गया है; खण्ड प्रलयरूप-ज्योति भावस्वरूप जो दिक्सोमरूप-अनिरुक्त कृष्ण है—उसके लिए ‘महारात्रि’ कहा गया है एवं अज्ञानान्धकार के लिए ‘मोहरात्रि’ कहा गया है। इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि विश्व, अग्नि-ज्योतिस्वरूप है। इसके अभाव में दिक्सोमरूपा रात्रि अवश्य ही रहती है। यह रात्रिरूप तम-अनुपाख्य और उपाख्य के बीच की वस्तु है। अग्नि-स्वरूप सृष्टि के अभाव में यही मध्य की दिक्सोमरूपा महारात्रि रहती है। इसे सर्वजगदभाव नहीं कह सकते क्योंकि प्रलय में भी क्रिया होती रहती है। वहाँ भी बल अपना काम करते रहते हैं। प्रलय को सुषुप्ति कहते हैं—सृष्टि को जाग्रत अवस्था कहते हैं। जैसे जाग्रत अवस्था में हमारे शरीर में क्रिया होती रहती है—एवमेव-सुषुप्ति-अवस्था में भी प्राणापानादि क्रिया अनवरत होती रहती है। अतएव हम कह सकते हैं कि सृष्टि में सम्बन्ध होता है; प्रलय में सम्बन्ध-विच्छेद होता है। क्रिया दोनों में है। सम्बन्ध को योग कहते हैं—विच्छेद को सांख्य कहते हैं। नाम-मात्र का भेद है—क्रिया दोनों में समान है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

“सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।”

बतलाना हमें यही है कि विश्वाभावरूपा जो दिक्सोमस्वरूपा रात्रि है—वही अनिरुक्त कृष्ण है। विश्व के बाद में भी यह रहती है, अतएव हम अनुपाख्य-कृष्ण की तरह-इसे भी कृष्ण कहने के लिए तय्यार हैं। यह जो दिक्सोम है—वह अवश्य ही कृष्ण है। विश्व शुक्ल है—विश्वातीत कृष्ण है। जैसे अनुपाख्य विश्वातीत है, वैसे ही—अनिरुक्त-विश्व और विश्वातीत दोनों हैं। रात्रि का जो अन्धकार है, वह अनिरुक्त कृष्ण है। इसे हम विश्वान्तर्गत होने से शुक्ल ही कहेंगे परन्तु विश्वप्रकाशाभाव में जो दिक्सोम-रूपा महारात्रि है, उसे हम विश्वातीत होने के कारण अवश्य ही कृष्ण कहेंगे। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

“तत्र यद्यपि निरुक्तमनिरुक्तं वा कृष्णत्वं नोपपद्यते। निरुक्ता निरुक्तयोरिन्द्रियव्यापारसापेक्षितत्वात् । इन्द्रियव्यापारस्यचातीन्द्रियैस्तत्रासंभा-

व्यमानत्वात् । तथापि विश्वस्यैतस्याग्नि विकासरूपतया तदभावदशायां दिक्-सोम-रूपा रात्रिर्नापवार्यते । तस्मादसौ ब्रह्मभावः (दिक् सोमः) कृष्ण एवोपपद्यते ।"—

यह विश्व अग्निमय होने के कारण ज्योतिस्वरूप है, अतएव 'शुक्ल' नाम से व्यवहृत होता है । इसे हम ज्योति इसीलिए कहने के लिए तय्यार हैं क्योंकि यह विश्व ज्योतिर्मय अग्नि से तो उत्पन्न हुआ है—एवं प्रत्यक्ष में द्योतमान है । विश्व भासित हो रहा है, चमक रहा है । जो वस्तु भासमान होती है, उसे ही तो ज्योति कहा करते हैं । चूंकि विश्व भासमान है—एवं-भासमान अग्नि से उत्पन्न हुआ है, अतएव हम अवश्य ही इसे 'ज्योति' स्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं । विश्व ज्योति-स्वरूप है—जब यह सिद्ध हो जाता है तो 'ज्योतिरभावस्तमः' इस सिद्धान्त से विश्व-ज्योति का जो प्राग्भाव है उसमें-प्रकृत में-'तम' शब्द प्रवृत्त हो जाता है । भगवान् कणाद तम का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—'ज्योतिरभावस्तमः' । प्रकाशाभाव का नाम ही ज्योति है । विश्व ज्योति-स्वरूप है—इससे सिद्ध हो जाता है कि विश्व का जो प्राग्भाव है, वह अवश्य ही तम है । परन्तु ध्यान रहे—यह तम उस अनुपाख्यतम से पृथक् वस्तु है । अनुपाख्यतम सर्वथा क्रिया-शून्य है, एवं इस सृष्टि के प्रलय-स्वरूप अनिरुक्त तम में क्रिया मौजूद है । विश्वज्योतिरभावस्वरूप दिक्सोमरूपा रात्रि-अवश्य ही कृष्ण है, इसीलिए श्रुति कहती है—'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' इति । सृष्टि के पहले (अग्रे) तम-तम से आवृत था, यही इस श्रुति का अर्थ है । सृष्टि से पहले-दो तम हों तभी—'तम, तम से आवृत था'—यह कहना युक्त-युक्त हो । अतएव सृष्टि से पहले अवश्य ही दो कृष्णों की स्थिति माननी पड़ती है । एक वही अनुपाख्य कृष्ण है, दूसरा वही अनिरुक्त-कृष्ण है । सृष्टि के पहले-अनिरुक्त-कृष्ण से विश्व ज्योतिरभावस्वरूप कृष्ण से वह सर्वजगदभाव स्वरूप अनुपाख्यतम-आवृत था—यही 'तम आसीत् तमसागूढमग्रे' का तात्पर्य है । इसीलिए 'आसीदिदं' कहा जाता है । अनुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त में अनुपाख्यवत् अनिरुक्त कृष्ण भी कृष्ण ही है—यह बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—'विश्वं हीदं ज्योतिः'—ज्योतिर्मयाग्नि-जन्यत्वात्-प्रत्यक्षं द्योतमानत्वाच्च । एवं सति 'ज्योतिरभावस्तमः' इति सिद्धान्तादमुष्मिन् विश्वज्योतिषः प्राग्भावे तमः शब्दः स्थाने प्रवर्तते । अतएव श्रूयते—'तम आसीत्-तमसागूढमग्रे' इति । स्मर्यते च—

“आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ इति ॥

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि जब ‘ज्योतिरभावस्तमः’—यह कहा गया है तो ऐसी अवस्था में कृष्ण रूप का ‘ज्योतिष्टव’ नहीं होगा। ज्योति के अभाव का नाम तम है—अर्थात् कृष्ण है—जब यह सिद्धान्त है तो फिर कृष्ण को ज्योति कैसे कहा जा सकता है ? इस हिसाब से तो कृष्ण ज्योति का अभाव हुआ न कि ज्योति। एवं प्रकरण के प्रारम्भ में शुक्ल और कृष्ण दोनों को ज्योति बतलाया गया है। ‘अग्निषोमौ पृथगिव रूपं जनयतः शुक्लं च कृष्णं च’। इससे ‘कृष्ण और शुक्ल’—दोनों को रूप बतलाया गया है। ज्योति को ही तो रूप कहते हैं। परन्तु यहाँ आपकी इस पूर्व-प्रतिज्ञा का विरोध हो जाता है। यहाँ पर आप तम के लिए ‘ज्योतिरभावस्तमः’ यह कहते हैं। ऐसी अवस्था में पूर्वा-पर विरोध आ जाता है। भाष्यकार कहते हैं—वास्तव में पूर्व-पक्ष ही ठीक है। कृष्णतत्त्व विश्व-ज्योति के अभावस्वरूप होने से वास्तव में, तम शब्द से ही व्यवहृत होता है। परन्तु ज्ञान-ज्योति वहाँ भी मौजूद है, अतएव तदपेक्षया निरुपाख्य कृष्ण के लिए भी चूँकि ज्योतिः शब्द का व्यवहार होता है, अतएव कोई दोष नहीं है। तात्पर्य्य यही है कि ज्योति-‘ज्ञान-भूत’ भेदेन दो प्रकार की है। ज्ञान-ज्योति और भूत-ज्योति-दोनों ही ज्योति हैं। जिसे प्रकाश-उजाला-इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, वही भूत-ज्योति है, एवं जिससे इन प्रकाशादि का ज्ञान होता है, जिस ज्योति से प्रकाशादि भासित होते हैं—वही ज्ञान-ज्योति है। ज्ञान-ज्योति तो ज्योति की भी ज्योति है। भूत-ज्योति अन्धकार में हर्गिज नहीं जा सकती, परन्तु ज्ञान-ज्योति निबिड से निबिड अन्धकार का भी प्रत्यक्ष करवा देती है। ज्ञान-ज्योति से जैसे प्रकाश का ज्ञान होता है, वैसे ही अन्धकार का भी ज्ञान होता है। भूत-ज्योति नष्ट हो जाती है परन्तु ज्ञान-ज्योति नष्ट नहीं होती। चाहे सारा विश्व नष्ट हो जाय परन्तु ज्ञान-ज्योति का नाश नहीं होता। विश्वा-भावावस्था में भी ज्ञान-ज्योति अवश्य रहती ही है। बस, इस ज्ञान-ज्योति के अभिप्राय से ही हमने विश्ववत्-विश्वातीत-निरुपाख्य कृष्ण को ज्योति कहा है। कृष्ण के लिए ज्योतिः शब्द ज्ञान-ज्योति के अभिप्राय से है, न कि भूत-

ज्योति के अभिप्राय से । इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर पूर्व-पक्ष का उद्धरण कर-उसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

“नन्वेवंतर्हि—ज्योतिरभावस्तमः इत्युक्तेरस्य कृष्णस्वरूपस्य ज्योतिष्ट्वं न स्यात्—उभयोस्तु शुक्ल कृष्णयोज्योतिष्ट्वं प्रतिज्ञायते—इति चेत् सत्यम् । विश्व ज्योतिष्ट्वाभावेन तमस्त्व व्यवहारेऽपि ज्ञानज्योतिष्ट्वस्य तत्रापि-हारादस्य निरुपाख्यस्यापि कृष्णस्य ज्योतिष्ट्व व्यवहार सिद्धेरदोषात् ।”

इस सारे प्रपञ्च का सारा यही समझना चाहिए—विश्व कार्य्याभाव लक्षण विश्वातीत जो निरुपाख्य तत्त्व है, वही ‘कृष्ण—ज्योति’ नाम से प्रसिद्ध है । एवं विश्व—शुक्ल ज्योति नाम से प्रसिद्ध है । बस, सारे ब्रह्माण्ड में ‘शुक्ल और कृष्ण’—ये दो ही ज्योतियाँ हैं—“तथा चेदं विश्वकार्य्याभाव लक्षणं विश्वातीतं निरुपाख्यं भवति—कृष्णज्योतिः” इति भावयेत् ।”

हमने बतलाया है कि ज्ञान—भूत भेदेन ज्योति दो प्रकार की है । इन दोनों में से जो ज्ञान—ज्योति है—उसी से कृष्ण का सम्बन्ध है, अतएव हम उसके विषय में कुछ और कहेंगे । यह ज्ञान—ज्योति—अवस्था विशेष के कारण—निर्विषयक ज्ञान—ज्योति—अविद्यामय ज्ञानज्योति एवं विश्वविषय ज्ञानज्योति भेदेन तीन स्वरूप धारण कर लेती है—“ज्ञानज्योतिस्तावत् त्रिविधं संपद्यते—निर्विषयमविद्याविश्वविषयञ्चेति” ।

जिस ज्ञान—ज्योति का हम स्वरूप बतला रहे हैं, वह ज्ञान स्वभाव से ही विषयावच्छेदेनैव भासती है । ज्ञान के स्वरूप को दिखलाने वाले विषय हैं । यही ज्ञान जो कि प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा अभास्यमान था, विषयावच्छेदेन चमक पड़ता है । तिल के संसर्ग से ज्ञान तिलाकाराकारित हो जाता है । पुस्तक के संसर्ग से पुस्तकाकाराकारित हो जाता है । यही ज्ञान पर्वताकाराकारित हो जाता है । यहाँ तक कि यही ज्ञान विश्वाकाराकारित बन जाता है । परन्तु यह सारी महिमा विषय की ही है । विषयावच्छेदेनैव ज्ञान प्रकाशित होता है । ज्ञान के दर्शन का कारण एकमात्र विषय ही है । ‘अहं जानामि—मयाज्ञायते’ यही ज्ञान का प्रकाश है । यह प्रकाश विषयावच्छेदेनैव होता है । ज्ञान सदा

विषयाकाराकारित ही रहता है। घट ही तो ज्ञान का आकार है। 'घटमहं जानामि' में ज्ञान घटाकाराकारित बना हुआ है। 'घटं जानामि' यही ज्ञान का स्वरूप है। यदि सारे विषय ज्ञान में से निकाल दिए जायँ तो ज्ञान का पता ही न लगे। निर्विषयक ज्ञान एकदम गायब हो जाता है। निर्विषयक-ज्ञान सर्वथा अभास्यमान है, अप्रकाशी है। जो प्रकाशमान पदार्थ है, उसे शुक्ल कहते हैं, अप्रकाशी को कृष्ण कहते हैं। निर्विषयावच्छिन्न ज्ञान अभास्यमान है, अप्रकाशी है, अतएव इस निर्विषयक ज्ञान को हम अवश्य ही कृष्ण कहने के लिए तय्यार हैं—

“तत्रेदं ज्ञानं स्वभावतो विषयावच्छेदेन भासते—इति निर्विषयाभास्यत्वात्—कृष्णमिति ब्रूमः।”

एवं जो ज्ञान विश्वरूपेण प्रतिभासित हो रहा है, जो ज्ञान विषय-रूप में परिणत होकर प्रतीति का विषय बन रहा है—वह प्रतिभासित हो रहा है, अतएव इसे हम शुक्ल कहने के लिए तय्यार हैं। निर्विषयक ज्ञान अभास्यमान है, अतएव वह कृष्णपदवाच्य है। एवं सविषयक ज्ञान भासमान है—अनुभवात्मक है, अतएव वह शुक्लपद वाच्य है। विषयावच्छिन्न ज्ञान शुक्ल है—निर्विषयावच्छिन्न ज्ञान कृष्ण है—यही तात्पर्य है—

“यत्प्रमेरिदं विश्वरूपेण प्रतिभाति—तत् प्रतिभातीति शुक्लं ब्रूमः।”

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—ज्ञान का जो सत्ता के साथ सामानाधिकरण्य वैय्यधिकरण्य—सम्बन्ध है, इसी से एक ही ज्ञान शुक्ल और कृष्ण—इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। विषयावच्छिन्न जो ज्ञान है, उसमें ज्ञान के साथ विषयसत्ता का सामानाधिकरण्य रहता है। बस यही ज्ञान का शुक्लत्व है। विषय सत्ता और ज्ञान का यदि सामानाधिकरण्य हो जाता है तो ज्ञान का अनुभव हो जाता है, ज्ञान का स्वरूप चमक पड़ता है। अतएव विषयसत्ता सामानाधिकरण्य सम्बन्धयुक्त ज्ञान को हम शुक्ल कहने के लिए तय्यार हैं। ज्ञान में सत्ता रहे परन्तु सामानाधिकरण्य भी रहे, तभी ज्ञान शुक्ल कहलायेगा। सामने रज्जु की सत्ता है एवं ज्ञान सर्प का हो रहा है। रज्जु की सत्ता यद्यपि ज्ञान में मौजूद है, परन्तु उसका ज्ञान के साथ सामा-

नाधिकरण्य नहीं है, अपितु वैय्यधिकरण्य है, अतएव सत्ता के रहने पर भी हम इसे ज्ञान न कह कर अज्ञान ही कहते हैं। तात्पर्य यही है कि सत्ता-सामानाधिकरण्य से ज्ञान शुक्ल कहलाने लगता है, एवं ठीक इसके विरुद्ध जो निर्विषयक ज्ञान है, वह सत्तामय है। यदि वह सत्तामय न होता तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता। सत्ता न होती तो ज्ञान का अस्तित्व ही न रहता। अस्तित्व का नाम ही तो सत्ता है। अतएव मानना पड़ता है कि निर्विषयक ज्ञान यद्यपि सत्तामय है, परन्तु उसका ज्ञान के साथ सामानाधिकरण्य नहीं है, अतएव हम इसे कृष्ण कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

“ज्ञानस्य सत्ता सामानाधिकरण्यं वैय्यधिकरण्ये शुक्ल कृष्णे भवतः । सविषयकत्वे तावद् विषयसत्ता सामानाधिकरण्याज्ज्ञानस्यास्य शुक्लत्वम् । निर्विषयस्य तु सत्तामयत्वेऽपि सत्तासामानाधिकरण्यं नास्तीति कृष्णत्वम् ।”

बस—शुक्लकृष्ण-ज्योति का स्वरूप पहला पक्ष है। ज्ञान ज्योति-निर्विषयक, अविद्या और विश्व विषयभेदेन तीन प्रकार की बतलाई थी उसमें यही पहली निर्विषयक ज्ञानज्योति है। सर्वविषयाभाव स्वरूप जो ब्रह्मज्योति है, यही कृष्ण है। एवं विश्व-ज्योति शुक्ल है। सर्वविद्यविषयाभाव स्वरूप जो तम है—ज्ञानज्योति है—वह कृष्ण है। एवं सर्व विषयावच्छिन्न ज्ञान ज्योति-र्मय विश्वज्योति—शुक्ल है। विश्वातीत कृष्णज्योति है। विश्व शुक्ल-ज्योति है—

“ते है ते शुक्ल कृष्णे प्रथमः पक्षः । कृष्णं ब्रह्म ज्योतिः । शुक्लं विश्व ज्योतिरिति विद्यात् ॥१॥

इति निर्विषयज्ञानं—प्रथमः पक्षः ॥

पूर्व में हमने इस ऐश्वर्य-विभुज्ञान के दो स्वरूप बतलाए हैं। वही विभुज्ञान निर्विषयावच्छेदेन एवं विषयावच्छेदेन अपने शुक्ल और कृष्ण दो स्वरूप बना कर सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है। इस महामहिम के चरम ज्ञान के अंश-प्रत्यंश-भूत जो ये क्षुद्र ज्ञान हैं ये अनन्त जीवों के

अनन्त ही हैं। वे चूँकि अपूर्ण हैं—क्लेशादिसंक्रान्त हैं, अतएव इन जीव-ज्ञानों को—‘अविद्या’ शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

तात्पर्य्य यही है कि उस महा-व्यापक ईश्वर-ज्ञान की जो अनन्त रश्मियाँ हैं—वे जीव में प्रतिबिम्बित होकर अनन्त-स्वरूप धारण कर लेती हैं। हमारे शरीर में अनन्तानन्त कीड़े भरे हुए हैं। वे सब हमारे ही अंश-प्रत्यंशभूत हैं। उन्हें जो कुछ अन्नादि की मात्रा मिलती है एवं चेतना-शक्ति मिलती है, वह हमीं से मिलती है। तो जिस प्रकार शरीरस्थ कीटों के हम अधिष्ठाता हैं, तथैव हम बड़े जीवों का अधिष्ठाता वही महामहिम-ऐश्वर्य्य-विभु-ज्ञान है। हम जीव उसके अंश-स्वरूप हैं। जिस प्रकार एक ही समुद्र में से पानी ले-लेकर नदियाँ अपना नाम-रूप-कर्म ग्रहण कर लेती हैं, उसी प्रकार उसी सच्चिदानन्दघन के अंश-प्रत्यंश को लेकर हम नाना जीव उसके शरीर में कीटवत् व्याप्त हो रहे हैं। वह ज्ञानघन सच्चिदानन्द-ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तीनों का घन है। हमारे में जो ज्ञान-क्रिया और अर्थ शक्ति है, वह इसी में से आया हुआ है। ईश्वर ज्ञानघन है, वही उक्थ कहलाता है। इसी में से ज्ञान-रश्मियाँ उठती हैं, अतएव इस ज्ञानघन को ‘उक्थ’ कहते हैं। इसमें से चारों ओर व्याप्त होकर निकलने वाली जो ज्ञान-रश्मियाँ हैं, वे ही अर्क हैं। एवं अपने से उत्पन्न जिस विश्व को उस सच्चिदानन्द ने ज्ञान-रश्मियों से पकड़ रक्खा है—वह विश्व ही अदिति है। इस प्रकार वह ईश्वर-उक्थ-अर्क-अदितिरूप में परिणत होकर संसार में व्याप्त हो रहा है। इस ईश्वर की जो अर्क है अर्थात् ज्ञान-रश्मि है, वही हम जीवों का उक्थ बन जाता है। सूर्य्य उक्थ है—सूर्य्य की रश्मियाँ अर्क हैं। एवं जिन पदार्थों का सूर्य्य-रश्मियों द्वारा शोषण किया जाता है, वे पार्थिव पदार्थ अदिति हैं। सूर्य्य की जो रश्मि है, वह पानी में गिर कर प्रतिबिम्बस्वरूप में परिणत हो उस प्रतिबिम्ब की उक्थ बन जाती है। जैसे सूर्य्य उक्थ है वैसे ही—एवं जैसे इसमें से चारों ओर किरणें निकलने लगती हैं, तथैव प्रतिबिम्ब में से भी रश्मियाँ निकलने लगती हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि सूर्य्य का अर्क इस प्रतिबिम्ब का उक्थ बन जाता है। एव-मेव उस महामहिम की जो ज्ञान-रश्मियाँ हैं—वे महान् सोम पर पड़ कर उक्थ-रूप में परिणत हो जाती हैं। बस, यह जो—उस-ज्ञान-रश्मि का-चित् का-सोम

पर आभास है, इस चिदाभास को ही 'जीव' कहते हैं। चूँकि जीव उसी ईश्वर के अंश हैं, अतएव इनमें भी 'उक्थ-अर्क-अदिति' ये तीन भाव उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे इस केन्द्र में जो ज्ञान का पुञ्ज है, वही हमारा उक्थ है एवं जो ज्ञान-रश्मियाँ बाहर तक-विषय तक-आक्रमण करती हैं, वही अर्क है। जो भोग्य विषय है, वही अदिति है। जो भाव उसमें है, वही हमारे में है। इसी-लिए तो "योऽहं सो-योऽसौ सोऽहं" कहा जाता है। चूँकि ज्ञान-रश्मियाँ अनन्त हैं, अतएव जीव भी अनन्त ही हो जाते हैं। जैसे हमारे शरीर में अनन्त कीट भरे हुए हैं एवमेव उस ईश्वर के महाविशाल शरीर में हम अनन्त कीट भरे हुए हैं। हमारे शरीरस्थ कीट जैसे हमारे ही अंशप्रत्यंशभूत हैं तथैव हम उसी के अंशप्रत्यंशभूत हैं। हमारे शरीर में जो कीड़े हैं, उनमें चेतना, जरा-जरा सी करके विभक्त हो रही है, अतएव वे अपूर्ण हैं। एवं हम उनकी अपेक्षा पूर्ण हैं। 'अहम्' शब्द कीट-समष्टि पर लागू होता है एवं कीट शब्द व्यष्टि पर लागू होता है। व्यष्टि अपूर्ण है, अतएव अल्प-शक्ति है। समष्टि पूर्ण है, अतएव सबल है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति उस ईश्वर के शरीर में हम जीवों की है। वह पूर्ण है, हम अंशात्मक होने से अपूर्ण हैं। वह पूर्ण है, अतएव सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है। हम अपूर्ण हैं, अतएव अल्पज्ञ हैं, अल्प-शक्ति हैं। हम अविद्या-अस्मिता, रागद्वेषादि पाँचों क्लेशों से आक्रान्त रहते हैं। यह ईश्वर सर्व-दोष-विनिर्मुक्त है। इसीलिए तो "क्लेश कर्म विपाकाशयं रपरामृष्टः पुरुष विशेष-ईश्वरः" यह कहा जाता है। हम उससे भिन्न नहीं हैं। प्रतिबिम्ब सूर्य से भिन्न कैसे हो सकता है? सूर्य-रश्मि ही तो प्रतिबिम्ब बनी हुई है। एवमेव यह-"अहम्-भाव", उस ईश्वर की ज्ञान-रश्मि ही तो है। परन्तु जैसे पानी के कारण प्रतिबिम्ब भी हिलने लगता है, एवं दूषित कहलाने लगता है एवमेव यह जीव-ज्ञान जो कि वस्तुतः-ईश्वर-ज्ञान नहीं है, अविद्या अस्मितादि क्लेशों के कारण निजस्वरूप से अन्तर्हित हो, अविद्या-अस्त होकर-अविद्या नाम धारण करने लगता है। वही व्यापक ऐश्वर्य ज्ञान रश्मिरूप से जीव का उक्थ बन कर क्लेशादि दोषों से संक्रान्त होकर "अविद्या" नाम से परिणत हो जाता है। वही ज्ञान, विश्व से विश्वातीत भाव में परिणत होता है, वही अविद्या-स्वरूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

“ऐश्वरं हीदं विभुज्ञानमित्थं द्वैविध्येनाख्यातम् । अथ यान्येतस्य
महामहिम्नः परम ज्ञानस्यांशप्रत्यंशभूतानीमानि क्षुद्रक्षुद्राणि नानाज्ञानानि
तान्यनन्तानि जीवज्ञानानि—अपूर्णत्वात् क्लेशादि दोषसंक्रान्तत्वाच्चाविद्या
नाम ।”

‘अविद्या’ में जो ‘नञ्’ शब्द है, वह विद्या का अभाव नहीं बतलाता है । विद्या के अभाव का नाम अविद्या है—यह, इस अविद्या के, नञ् का अर्थ नहीं है । अपितु यह नञ् प्रकृत में अल्पार्थक ही अभीष्ट है । अविद्या से—अल्प-विद्या अथवा विरुद्ध विद्या ही अभिप्रेत है । अविद्या, विद्या का अभाव नहीं है । अपितु विरुद्ध विद्या का—अल्प विद्या का नाम अविद्या है । अविद्या एक पदार्थ है । इसीलिए तो “अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः” यह कहा जाता है । अज्ञान से जब ज्ञान ढक जाता है । मानना पड़ता है कि अज्ञान अवश्य ही एक पदार्थ है, न कि ज्ञानाभाव का नाम—अज्ञान है । अल्प का अर्थ है अपूर्णता । जीवों में विद्या की पूर्ण शक्ति के अभाव से निज स्वरूप का लाभ नहीं है । जीव—विद्या क्लेशादि के कारण पूर्णरूप से विकसित नहीं होती, अतएव अविद्या शब्द का व्यवहार होने लगता है । जिनमें ईषत् ज्ञान होता है एवं यह अज्ञान मिश्रित होता है, उन्हें ही भय लगा करता है । अज्ञानावृत ज्ञान ही—मोह का, भय का, दुःख का—एकमात्र कारण है । जो शुद्ध ज्ञान है उसमें भी भय नहीं है, एवं जो शुद्ध अज्ञान है, उसमें भी भय नहीं है । भय है—दोनों के मिश्रण में । आकाश में यदि कोई नया पक्षी उड़ कर जाने लगता है और उधर अकस्मात् हमारी दृष्टि पड़ जाती है तो हम चकित हो जाते हैं, हमें मोह हो जाता है कि अरे ! यह क्या गया ? कारण इसका वही मिश्रण है । पक्षी जा रहा है, इस प्रकार उसके जाने का तो ज्ञान मौजूद है, एवं पहले कभी उसे देखा नहीं था, अतएव तद्विषयक अज्ञान है । बस, इसी ज्ञानाज्ञान के मिश्रण से ही मोह होता है । “अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः”—यह अटल सिद्धान्त है । जो महा—महामूर्ख हैं, उन्हें भी भय नहीं होगा, एवं जो अधिगत याथातथ्य हैं, उन्हें भी भय नहीं होता । भय होता है, मध्य की श्रेणी वाले को । इसीलिए अभियुक्त कहते हैं—

“यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

द्वावेव सुखमेक्ष्येते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः” ॥ इति ॥

कहना यही है कि जीव-ज्ञान अल्प है, अपूर्ण है, क्लेशादि से आक्रान्त है, अतएव इसे अधिद्या शब्द से व्यवहृत किया जाता है ।—

“अविद्येति न शब्दो नाभावं विद्याया आह—अपियु—अल्पार्थः स इष्यते । अल्पत्वमकात्स्यरणम् । विद्यायाः पूर्णशक्त्या—स्वरूप लाभो नास्तीत्यविद्या-शब्द व्यवहारः ।”

इसका सत्ता के साथ जो सामानाधिकरण्य वैय्यधिकरण्य—सम्बन्ध है—वही शुक्ल एवं कृष्ण का जनक है । सत्ता सामानाधिकरण्य को शुक्ल कहते हैं—सत्ता वैय्यधिकरण्य को कृष्ण कहते हैं—यह बात—निर्विषय ज्ञान निरूपण में बतला दी गई है । वही नियम अविद्या विषय में भी लागू समझना चाहिए । सत्ता और भाति का अर्थात् ज्ञान का जो सामानाधिकरण्य है वह तो विद्या—कहलाती है एवं वैय्यधिकरण्य अविद्या कहलाती है । सामने घड़ा रक्खा हुआ है । घड़े की सत्ता है । यदि हमारे ज्ञान का सम्बन्ध, इस घट सत्ता के साथ सामानाधिकरण्येन है तो हम इसे विद्या कहेंगे । जो वस्तु है, उसी का ज्ञान होना विद्या कहलाती है । जिसकी अस्ति हो—उसी का ज्ञान है, वह विद्या कहलाती है । रज्जु ही है, यदि रज्जु ही का ज्ञान है तो इसे हम विद्या कहेंगे । परन्तु है कुछ और तथा ज्ञान होता है अन्य वस्तु का, तो हम अविद्या कहेंगे । सत्ता है रज्जु की—ज्ञान हो रहा है सर्प का—यही अविद्या है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

“ज्ञानस्य सत्ता सामानाधिकरण्यं वैय्यधिकरण्ये शुक्लेकृष्णे भवतः । सत्ताभात्योः सामानाधिकरण्यं विद्या । वैय्यधिकरण्यं त्वविद्या ।”

सामानाधिकरण्य—वैय्यधिकरण्य का नाम विद्या नहीं है अपितु—सामानाधिकरण्य-वैय्यधिकरण्य से होने वाला जो अनुभवायित संस्कार है—उसका नाम विद्या और अविद्या है । जो है—वही भासता है—जिसकी सत्ता है उसी का ज्ञान है इस प्रकार सत्ता सामानविषयानुभवाहित जो संस्कार है, वही

विद्या कहलाता है । इससे ज्ञानज्योति उत्तरोत्तर बढ़ती है—प्रकाशित होती है, अतएव हम इसे शुक्ल कहने के लिए तैय्यार हैं । एवं जो नहीं है, वह भासता है—अर्थात् अत्ता अन्य की है और ज्ञान दूसरे का हो रहा है, इस प्रकार सत्ता-अनाश्रित जो अनुभवाहित संस्कार है, वही अविद्या है । यह कृष्ण रूप है । इससे आत्मा का स्वरूप आवृत होता है, अतएव इसे हम कृष्ण कहने के लिए तैय्यार हैं । विद्या शुक्ल है—अविद्या कृष्ण है—यही तात्पर्य है—

“यदस्ति तद्भातीत्येवं सत्ता समान विषयकानुभवाहित संस्कार एवेयं विद्या । तच्छुक्लं रूपम् । अथ यन्नास्ति तद्भातीत्येवं सत्तानाश्रित विषय-कानुभवाहित संस्कारः खल्वविद्या । तत् कृष्णं रूपम्” ।

जीवात्मा को शुभ्रस्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

“सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥इति॥

श्रुति कहती है—यह आत्मा सत्य से लभ्य है । अर्थात् यदि तुम्हें आत्म-ज्ञान करना है—आत्मा को पहचानना है तो सदा सत्य बोलो । सत्य ही आत्मा का स्वरूप है । मिथ्या बोलने से मनःप्राणवाङ्मया आत्मा कुटिल हो जाता है, अतएव उस पर अच्छे संस्कार नहीं जम पाते । जैसे तेल से सने हुए कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता तथैव मिथ्यास्वरूप तैल के आवरण आ जाने से आत्मा पर विद्या का आना नहीं होता । अतएव आत्मज्ञान-पिपासु को सदा सत्य बोलना चाहिए । सत्य के साथ-साथ ही तप करने की भी आवश्यकता है । परिश्रम करने की अर्थात् प्राणमात्रा खर्च करने की भी आवश्यकता है । गद्दीतकिये फाड़ने से माल उड़ा कर मस्त पड़े रहने से भी—आत्मज्ञान नहीं होता । सत्य को प्राप्त करने का एकमात्र साधन तप ही है । एवं तप-सम्यग्ज्ञान से अर्थात् विद्या से और ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखता है । इस प्रकार तप-ज्ञानादि द्वारा शरीर में अन्तःप्रविष्ट जो ज्योतिर्मय आत्मा है, उसे जो क्षीण-दोष संयमी-महर्षि हैं, वे ही देखते हैं । इस श्रुति से अध्यात्म में जो अविद्यामय जीवात्मा है, इसको भी शुभ्र बतलाया जाता है । तुम कहते हो—जीव-ज्ञान अविद्या-स्वरूप है, अतएव कृष्ण है, एवं श्रुति कहती है—जीव शरीरान्तः प्रविष्ट आत्मा

विद्यामय है—शुभ्र है । इसका उत्तर बिल्कुल सीधा है । जीवात्मा प्रातिस्विक रूपेण क्लेशादि के कारण अवश्य ही अविद्यामय है । परन्तु ईश्वरापेक्षया वास्तव में शुद्ध रूप है । जीव, आत्मा और ईश्वरात्मा अभिन्न हैं—वही यह है—बस, इस बात को बतलाने के लिए जीवात्मा को शुक्ल कह दिया गया है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

“यत्तु—‘सत्येन’ इत्यादि श्रुतौ—अध्यात्मं तावदविद्यामयस्यापि जीवात्मनः शुभ्रत्वमाख्यायते—तदीश्वरात्माभिप्रायेण नेयम् ।”

“हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥”

(मुण्डक २।२।६)

इस श्रुति में—अधिदैवत जो व्यापक आत्मा है, उसे ही शुक्ल बतलाया जाता है । ईश्वर जीव-शरीर में प्रविष्ट है—इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—“ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।” ईश्वर-ज्योति शुभ्र है, अतएव जीवात्मा को भी शुभ्र बतला दिया जाता है ।

अपि च—यह जीवात्मा चूँकि परमात्मा का अंश है, अतएव प्रातिस्विक रूपेण यह सर्वथा विद्यामय ही है । अविद्या के कारण एवं दोष-संसर्ग के कारण इसमें अल्पज्ञतादि दोष आ जाते हैं । सारे प्रपञ्च से सिद्ध हो जाता है कि विद्या शुक्ला है—अविद्या कृष्णा है । बस, यह शुक्ल-कृष्ण-द्वितीय पक्ष है । निर्विषय-अविद्या-विश्वविषय-ज्ञानज्योति तीन प्रकार की बतलाई थी, उसमें यह दूसरा अविद्या पक्ष है—

“अस्ति चायं जीवात्मा परमात्मांशत्वात् स्वतस्तावदविद्यामय एव । अविद्यांशमलिनत्वस्तु दोषसंसर्गादस्याल्पज्ञत्वादयो भावाजायन्ते—इति भाव्यम् तथा च सिद्धं विद्या शुक्ला—अविद्या कृष्णेति । ते है ते—शुक्ल कृष्णे—द्वितीयः पक्षः ॥२॥

पूर्वोक्त दोनों पक्षों में—प्रथम-निर्विषयक ज्ञान-पक्ष जो कृष्ण है, उसे भगवान् कृष्ण समझ कर उसकी ही उपासना करनी चाहिए । चूँकि निर्वि-

षयक ज्ञानस्वरूप कृष्ण ही—विश्वातीत है, वही अनिर्वचनीय है—नित्य है, वही सर्वजगत् का कारण है, अतएव उसी की उपासना करनी चाहिए क्यों कि वही सत्य है। त्रिकालाबाधित जो तत्त्व है, वही सत्य कहलाता है; ऐसा निर्विषयक कृष्ण वही है। यही सृष्टि का पूर्व भाव है—यही उत्तरभाव है, अतएव हम इसे ही सत्य कहने के लिए तैय्यार हैं। अतः हमने सत्यकृष्ण को ही पूर्व के प्रकरणों में उपास्य बतलाया है।

द्वितीय अविद्या पक्ष में जो अविद्या है—अपूर्ण—रूप है, अतएव असत्य है। अतएव हमारे उपास्य अविद्यामय कृष्ण नहीं हो सकते। उपास्य तो वही व्यापक—निर्विषयक ज्ञानमय—सर्वविषयानुदयाक्रान्तस्वरूप—निरुपाख्य कृष्ण ही है—

“द्वयोश्चैतयोः पक्षयोः प्रथमे यत् कृष्णं—स भगवान् कृष्ण इत्युपासीत। विश्वातीतस्य विश्वोपहितस्यानिर्वचनीयस्यैव सर्वजगत्—कारणतया सत्यत्वात्। सत्यस्यैवात्रोपास्यकृष्णत्वेनाभ्युपेयत्वात्। द्वितीय पक्षे तु अविद्याया अपूर्णरूपत्वात्तत्त्वसत्यत्वमतएव स नाविद्यामयः कृष्णोऽस्माकं भवत्युपास्यः कृष्ण इति दिक्।”

अनुपाख्य, अनिरुक्त, निरुक्त भेदेन कृष्ण तीन प्रकार का होता है। तीनों में से अनुपाख्य कृष्ण का स्वरूप बतला दिया गया। अब क्रमप्राप्त-अनिरुक्त कृष्ण का स्वरूप बतलाते हैं। अनुपाख्य कृष्ण विश्वातीत है—अतएव इन्द्रियागोचर है एवं अनिरुक्त कृष्ण इन्द्रियगोचर है, अतएव वर्णनातीत है। विश्वज्योति का जो अभाव है—वही अनुपाख्य कृष्ण है। अनिरुक्त कृष्ण—चक्षुरिन्द्रिय में भूत-ज्योति विषय की निरपेक्षा से उत्पन्न होता है। सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-अग्नि-ये चार ही भूत-ज्योतियाँ हैं। प्रकाश इन चार ही से होता है। अनिरुक्त कृष्ण का इन चारों ज्योतियों के अभाव में आँखों से प्रत्यक्ष हो जाता है। चारों में से जब एक भी प्रकाश न रहेगा तभी अनिरुक्त कृष्ण के दर्शन होंगे। रात्रि का जो—अन्धकार है, वही अनिरुक्त कृष्ण है। वह भूत-ज्योति के अभाव में ही रहता है। हम आँखों से इस अनिरुक्त रात्रि के अन्धकार का प्रत्यक्ष अवश्य करते हैं परन्तु है वह वर्णनातीत। अनुपाख्य

की तरह यह भी दिग्देशकालानवच्छिन्न ही है। अतएव हम इसे 'अनिरुक्त कहने के लिए तैयार हैं। जिसका प्रत्यक्ष होता हो और जिसका वर्णन भी किया जा सकता हो, निर्वचन किया जा सकता हो, वह निरुक्त कृष्ण कहलाता है। एवं जिसका प्रत्यक्ष तो होता हो परन्तु वर्णन नहीं किया जा सकता हो—वही 'अनिरुक्त कृष्ण' कहलाता है। एवं जिसका न प्रत्यक्ष हो—न वर्णन हो सकता हो—वही अनुपाख्य कृष्ण कहलाता है। रात्रि का जो अन्धकार है—वह भूत-ज्योति के अभाव में आँखों से दिखलाई पड़ता है, अतएव पूर्व परिभाषा के अनुसार इसे हम 'अनिरुक्त कृष्ण' कहने के लिए तैयार हैं—“अथानिरुक्तं रूपमिन्द्रियेऽर्थस्य भूतज्योतिर्षो नैरपेक्ष्यादुपपद्यते।”

सूर्य्य में—ज्योति, गौ, आयुः—ये तीन मनोता होते हैं। इनमें ज्योति-भाग से वसुरुद्रादित्यादि ३३ तैत्तीस देवताओं की स्थिति रहती है। आयुर्भाग से—जड़ चेतन वस्तु जात के आत्मा की सत्ता रहता है। अतएव “सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च” (ऋग्वेद) यह कहा जाता है। एवं गौ भाग से भूत उत्पन्न होते हैं। पार्थिव भूत—सूर्य्य के गौ भाग से उत्पन्न होते हैं—अतएव पृथिवी को 'गौ' कहा जाता है। चूँकि सूर्य्य भी गौमय है—अतएव सूर्य्य को भी 'गौ' कहा जाता है। इस गौ के पेट में—ज्योतिर्भाग देवता रहते हैं। वसुरुद्रादित्यादि तैत्तीस देवता इसी सूर्य्य-गौ में रहते हैं। भूत, गौ से सम्बन्ध रखते हैं—ज्योतिर्मय देवता प्राण से सम्बन्ध रखते हैं। देवता प्राणमय हैं। गौ भूतमयी है। दोनों अविनाभूत हैं। प्राण—बिना भूत के नहीं रह सकते, भूत—बिना प्राण नहीं रह सकता। भूत नाम है—मैटर का। प्राण नाम है—फोर्स का। मैटर और फोर्स—अर्थात् शक्ति, जिस शक्ति ने कि मैटर को गिरफ्तार कर रक्खा है—दोनों अविनाभूत हैं। फोर्स, बिना मैटर के नहीं रह सकता; मैटर, बिना फोर्स के नहीं रह सकता। यद्यपि दोनों अविनाभूत हैं तथापि सौर-मण्डल में प्राण-भाग उल्वण रहता है और भूत-भाग अनुल्वण रहता है, अतएव—सूर्य्य को प्राणमय ही बतला दिया जाता है। प्राण की उल्वणता को लेकर—“प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः”—यह कह दिया जाता है। परन्तु ध्यान रहे, प्राण में भूत अर्थात् गौ अवश्य ही है। भूत अर्थात् गौ ही इन वसुरुद्रादित्यादि तैत्तीसों प्राण देवताओं की आधारभूता है। अतएव श्रुति कहती है—

मातारुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
 प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय मागा मनागामर्दिति वधिष्ट ॥ इति
 (ऋग्वेद ८।१०१।१५)

जिसे हम-गौमाता कहते हैं, उसमें सूर्य की गौ का अधिक भाग है, अतएव उस प्रकृति की गौ के अनुसार इसका नाम भी 'गौ' ही रख दिया गया । गौ में सारे प्राण-देवता रहते हैं, अतएव उसी गौ-प्राण से निर्मित इस पशु गौ में भी, सारे देवताओं की स्थिति माननी पड़ती है । इसी पशु 'गौ' की ओर ध्यान दिलवाने के लिए "मागा मनागामर्दिति वधिष्ट" कहा गया है । बतलाना हमें यही है कि सूर्य में ज्योति, आयु और गौ-ये तीन मनोता रहते हैं । ज्योति-आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, दो अश्विनीकुमार भेदेन कुल तैतीस हैं । एवं आयु छत्तीस हजार है । चूँकि आयु कुल छत्तीस हजार है, अतएव "शतायुर्वै पुरुषः" यह कहा जाता है । प्रति दिन, एक आयु का, मनुष्य भोग कर लेता है । इस प्रकार सौ वर्ष में ३६००० (छत्तीस हजार) आयुभोग समाप्त हो जाता है । यह आयु सर्वथा नियत है । इसके पहले मृत्यु का एक मात्र कारण 'प्रज्ञापराध' है । हीनयोग-मिथ्यायोग-अतियोग दोषों से वात-पित्त-कफ की समीक्रिया नष्ट हो जाती है, एवं तीनों में विषमता आ-जाती है । यही विषमता-अकाल-मृत्यु का कारण बनती है । मिथ्याहार-विहार ही का नाम-'प्रज्ञापराध' है । यदि सुयोगपूर्वक-वात-पित्त-कफ की समीक्रिया को सुरक्षित रख कर काल-यापन किया जाए तो १०० सौ वर्ष से पहले कदापि मृत्यु नहीं हो सकती । परन्तु १०० सौ वर्ष से अधिक जी भी नहीं सकता । हाँ वैध उपायों से-कायाकल्पादि से, चार सौ वर्ष तक की आयु हो सकती है । परन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार सौ वर्ष से अधिक आयु नहीं हो सकती अतएव आयु की प्रार्थना करते हुए ब्राह्मण सन्ध्योपासना में निम्न-लिखित मन्त्र द्वारा सौ वर्ष की आयु ही माँगा करते हैं—

"शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
 शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ।"
 (ऋग्वेद १०।१६।१४)

पूर्वोक्त श्रुति से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्राकृतिक वैदिक आयु-कुल सौ ही वर्ष की है। छत्तीस हजार दिन से अधिक मनुष्य नहीं जी सकता। जीवे कैसे? जब कि आयु प्रदाता सूर्य में कुल छत्तीस हजार ही आयु है। सूर्य मन-प्राण-वाङ्-मय है—यह बात हम पूर्व के प्रकरणों में बतला आए हैं। यही मन-प्राण-वाङ्-मय सूर्य हमारा आत्मा है अर्थात् आयु है, अतएव आत्मा के लिए—“स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः” यह कहा जाता है। मन-प्राण-वाक् तीनों की समष्टि का नाम ही आत्मा है। आयु को ही आत्मा कहते हैं। यह आयु अर्थात् आत्मा प्रति दिन सूर्य से आता है और दूसरे दिन उसी प्रभव में चला जाता है। एवं वहाँ से फिर नया आत्मा आ जाता है। इस प्रकार यह एति-प्रेति का चक्र अनवरत चला करता है। आत्मा सदा सूर्य में जाया करता है, सदा आया करता है—अतएव श्रुति कहती है:—

“अहरहर्वाऽ एष यज्ञस्तायते । अहरहः संतिष्ठते । अहरहरंनं स्वर्ग-
स्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते । अहरहे ने ने स्वर्गं लोकं गच्छति । इति॥
(शतपथ ६।४।४।१५)

आत्मा-मन-प्राण-वाङ्-मय है। ये तीनों ही छत्तीस हजार हैं। मन भी छत्तीस हजार, प्राण भी छत्तीस हजार और वाग् भी छत्तीस हजार हैं। एक प्राण, एक मन, एक वाक् का हम प्रतिदिन भोग करते हैं। इस प्रकार छत्तीस हजार दिन में तीनों का छत्तीस हजार की संख्या में भोग हो जाता है। तीनों का भोग छत्तीस हजार दिनों में हो जाता है, अतएव आयु कुल छत्तीस हजार दिन में समाप्त हो जाती है। मन-प्राण-वाक् के छत्तीस हजार के स्वरूप को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

“नेव वाऽइदमग्रेऽसदासीन्नेव सदासीत् । आसीदिव वाऽइदमग्रे
नेवासीत् । तद्धतन्मन एवास । तद्विदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्—निरुक्ततरं
मूर्ततरम् । तदात्मानमन्वैच्छत् । तत् तपोऽतप्यत । तत् प्रामूच्छत् । तत्
षट्त्रिंशतं सहस्राणि अपश्यदात्मनो अग्नीनर्कान् मनोमयान् । तन्मनो
वाचमसृजत । सा प्रामूच्छत् । सा षट्त्रिंशतं सहस्राण्य पश्यदात्मनोऽग्नीन-

कर्न् वाङ्मय । सा वाक् प्राणमसृजत । स प्रामूच्छत् । स षट्त्रिंशत् सह-
स्राण्य पश्यदात्मनोऽग्नीनकर्न् प्राणमयान् ।” (शतपथ १०।५।३।१, ३-५)

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि सूर्य में रहने वाली आयु छत्तीस हजार है । तीसरा मनोता है—गौ । गौ का स्वरूप परमेष्ठिकृष्ण में बतलाया जाएगा । यहाँ पर इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि यह ‘गौ’ कुल एक हजार है । इन्हीं के आधार पर ३३ (तीस) अहर्गण का विभाग होता है । तीस-तीस गौ का एक-एक अहर्गण होता है इस प्रकार ६६० गौ में ३३ अहर्गण हो जाते हैं । बाकी १०० गौ बच जाती हैं, वहाँ ३४ वाँ प्रजापति कहलाता है । वसु, रुद्र, आदित्य—तीन ही प्रधान देवता हैं । इसी अभिप्राय से कहा गया है कि—

“तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्नि पृथिवी स्थानो वायु-
वैन्द्रो वान्तरिक्ष स्थानः सूर्यो द्युस्थान—इति ।”

(नि० दैवतकाण्ड ७।५।२)

सारे देवता इस सूर्य में रहते हैं । सूर्य में एक हजार गौ हैं, ऐसी अवस्था में वसु—३३३, रुद्र—३३३, आदित्य—३३३ के विभाग से ६६६ गौ तीनों देवताओं में बँट जाती हैं । एक गौ बाकी बच जाती है । इसी का नाम ‘कामगवी गौ’ है । इसे ही ‘कामधेनु’ कहते हैं । वसु गो से पृथिवी—लोक की संपत्ति मिलती है । रुद्र गो से अन्तरिक्ष—लोक की संपत्ति मिलती है । आदित्य गो से द्युलोक की संपत्ति मिलती है । इस प्रकार तीनों अपने-अपने स्थान में नियत हैं । चूँकि इस हजारवीं गौ का तीनों लोकों से सम्बन्ध है, इससे तीनों लोकों की संपत्ति मिलती है, अतएव इसे कामगवी किंवा कामधेनु कहा जाता है । इन सहस्र गौओं के कारण ही भगवान् सूर्य ‘सहस्रांशु’ कहलाते हैं । यद्यपि रश्मि का नाम ‘गौ’ नहीं है, अपितु जिसके आधार पर रश्मि रहती है, उसका नाम गौ है, तथापि चूँकि दोनों अविनाभूत हैं, अतएव हम रश्मि को ‘गौ’ शब्देन व्यवहृत कर सकते हैं । अब हम सूर्य की रश्मि को ही गौ कहेंगे । ये गौ अर्थात् सूर्य—रश्मियाँ कुल एक हजार हैं—यह बात पूर्व के प्रकरण से सिद्ध हो जाती है ।

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम—इन अक्षरों से ही सारे विश्व का निम्माण होता है। इन पाँचों में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र—ये तीनों तो हृद्य हैं, अर्थात् हृदय में रहने वाले हैं। एवं 'अग्नि-सोम' तीनों हृद्यों से बाहर रहते हैं। बाहर रहते हुए ये 'अग्नि-सोम' तीनों हृद्यों से बद्ध रहते हैं। तीनों विश्व-शरीर में अन्तर्निगूढ़ रहते हैं, अतएव तीनों को हम विश्व नहीं कह सकते। विश्व-स्वरूप में—अग्नि और सोम—ये दो ही अक्षर रहते हैं। अतएव हम विश्व को 'अग्नी-षोमात्मक' कहने के लिए तैय्यार हैं।

ब्रह्मादि तीनों अक्षर अन्तर्निगूढ़ हैं एवं विश्वस्वरूप में अग्नि-सोम ही परिणत हो रहे हैं, अतएव 'अग्नी षोमात्मकं जगत्' यह कहा जा सकता है। विश्व में सिवाय अग्नि-सोम के तीसरा कोई भी पदार्थ नहीं है। गर्मी का नाम अग्नि है, सर्दी का नाम सोम है। वास्तव में—सर्दी—गर्मी के अलावा और है ही क्या ? इसी सर्दी—गर्मी से संसार के यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। हम जिसे देख रहे हैं, वह सारा प्रपञ्च अग्नी-षोमात्मक ही है। अग्नी-षोम दोनों अविनाभूत हैं। एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते।

जब संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं तो सूर्य इसके बाहर क्यों कर जा सकता है ? सूर्य को भी अवश्य ही अग्नीषोमात्मक मानना पड़ता है। जबर्दस्ती नहीं मानना पड़ता, वास्तव में—है ही। सूर्य अग्नि का गोला है—यह तो आपामर-आविद्वत् कुल जानता ही है। रहा सोम। जब कि सूर्य का पिण्ड नष्ट नहीं होता तो ऐसी हालत में मानना पड़ता है कि इसमें सोम भी अवश्य ही आहुत होता रहता है। अग्नि विशकलन-धर्म्मा है। वह पिण्ड रूप में कभी परिणत नहीं हो सकता। सोम संकोच-धर्म्मा है। ध्रुव, धर्त्र, धरुण, धर्म्म भेदेन सोम ही आग्नेय पदार्थों को पिण्ड-रूप में परिणत किया करता है।

सोम से ही अग्नि की सत्ता रहती है। हम जब तक होती रहती है, तब तक शरीराग्नि प्रज्वलित रहता है। यदि दस-पाँच दिन अग्नि में आहुति न डाली जाय तो हाथ पैर ठंडे हो जायँ। अतएव मानना पड़ता है कि अग्नि की सत्ता सोमाहुति से ही रहती है। सूर्य आग का गोला है। वह कभी नष्ट

नहीं हो पाता; सदा आकाश में स्थिर रूप से तपा करता है। इसकी यह स्थिरता तब तक नहीं बन सकती जब तक कि इसमें सोमाहुति का सम्बन्ध न मान लिया जाय। सोम से सम्बन्ध के बिना सूर्य की सत्ता सर्वथा असंभव है। अतएव मानना पड़ता है कि इसमें अवश्य ही सोम आहुत होता रहता है। वह यही पारमेष्ठ्य ब्रह्मस्पति का सोम है जिसके लिए “पवित्रं ते विव्रतं ब्रह्मणस्पते” कहा जाता है। यह सोम-सूर्य में अनवरत आहुत होता रहता है; इसीलिए सूर्य को ‘अग्निहोत्र’ कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

“सूर्यो ह वाऽअग्निहोत्रम् । तद्यदेतस्या अग्रऽ आहुतेरुदैत्—तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम्” (शतपथ २।३।१।१)

इससे बतलाना हमें यही है कि सूर्य अग्नीषोमात्मक है। जिसे हमने ‘गौ’ बतलाया है, वह असल में परमेष्ठी-मण्डल की वस्तु है, जैसा कि ‘परमेष्ठी कृष्ण रहस्य’ में बतलाया जाएगा। सूर्य २१ इक्कीस पर है। इससे ऊपर २६ वें अहः पर परमेष्ठी-पिण्ड है। इस २६ वें अहः से सात अहः बीच के और सात अहः ऊपर के—इन दोनों को मिला कर जो एक यज्ञ होता है, उसे ही ‘गोसव’ यज्ञ कहते हैं। इसी स्थान का नाम गोलोक है जो कि सूर्य से भी ऊपर है। यह गोसव यज्ञ बाईस से छत्तीस अहर्गण तक होता है, अतएव इसे ‘पञ्चदशाह’ यज्ञ भी कहा जाता है। बस, इसी ‘पञ्चदशाह यज्ञ’ में हजार गौओं का निर्माण होता है, एवं यही सूर्य में आकर सूर्य की वस्तु बन जाती हैं।

कहना हमें यही है कि असल में ये गौएँ परमेष्ठी की वस्तु हैं। वही प्रवर्ग्य बन कर सूर्य की वस्तु बन जाती हैं। जब कि पारमेष्ठ्य-सोम ही सूर्य में न आएगा तो गौ का सम्बन्ध ही कैसे होगा? अतएव मानना पड़ता है कि सोम अवश्य ही सूर्य में आहुत होता रहता है। सोम के बिना अग्निमय सूर्य में से जो रश्मियाँ निकल रही हैं, वह भी इसी सोम की महिमा है। अग्नि में जो ज्वालाएँ उठती हैं, वह सोम की ही महिमा है। घृत-सोम को किंवा राल-सोम को जब अग्नि में डाला जाता है तो वह अग्नि एकदम

भभक उठता है । सूर्य्याग्नि प्रज्वलित होता हुआ सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है, अतएव मानना पड़ता है कि सूर्य्य में सोम भी अवश्य ही है । सूर्य्य-अग्नि-सोम का गोला है । जब सूर्य्य अग्नि-सोम का गोला है तो सूर्य्य की जो गौएँ हैं, जिन्हें कि हम प्रकृत में रश्मियाँ कहेंगे, वे भी अवश्य ही अग्नि-सोमात्मक है । सूर्य्य ही तो रश्मि बना हुआ है । रश्मि और सूर्य्य मृदघटवत् सर्वथा अभिन्न हैं । अतएव-सूर्य्यवत्-रश्मियों को अर्थात् गौओं को—हम अवश्य ही “अग्नीषोमात्मिका” कह सकते हैं ।—

परमेष्ठिमण्डल सूर्य्य से ऊपर है । सोम उसी परमेष्ठी की वस्तु है । भूत-ज्योति का नाम ही उजाला है । इस उजाले का अर्थात् भूत-ज्योति का सूर्य्य ऊपर वाले परमेष्ठिमण्डल में सर्वथा अभाव है । चूँकि वहाँ सूर्य्य-प्रकाश का अभाव है एवं ‘ज्योतिरभावस्तमः’ यह सिद्धान्त है, अतएव उसी तमःलोक में—परमेष्ठी-लोक में रहने वाले सोम को हम ‘कृष्ण’ कहने के लिए तैयार हैं । वास्तव में परमेष्ठी-मण्डल का सोम, जिसे कि हम अनिरुक्त-कृष्ण कहेंगे, सर्वथा काला है । सूर्य्य प्रकाशमान है, अग्निमय है, अतएव हम इसे अर्थात् सौराग्नि को ‘शुक्ल’ कहने के लिए तैयार हैं ।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अग्नि शुक्ल है और सोम कृष्ण है । सूर्य्य गौएँ, चूँकि अग्नीषोमात्मिका हैं, अतएव हम इन सूर्य्य-रश्मियों को ‘शुक्ल कृष्णात्मिका’ कहने के लिए तैयार हैं । सूर्य्य की रश्मियों में—काला और सफेद दो अर्थात् हिरण्यमय दोनों रंग विद्यमान हैं । बस, इस काले और हिरण्यमय के अर्थात् अग्नि और सोम के संयोग तारतम्य से, इन सूर्य्य-रश्मियों में सात रंग उत्पन्न हो जाते हैं । यद्यपि असली रंग शुक्ल और कृष्ण ही है तथापि इनके संयोगतारतम्य से सात मायिक रंग उत्पन्न हो जाते हैं । यह ‘गौ’ अर्थात् सूर्य्य-रश्मि अनेक वर्णोपचीयमाना है । अनेक (सात) वर्णयुक्ता है, अतएव इसे ‘पृश्नि’ कहा जाता है । चित्रा का नाम ही पृश्नि है, पृषत् नाम है—बिन्दु का । यह गौ-वर्ण भेदेन नाना बिन्दुमती हो जाती है अतएव इसे ‘पृषद्वती’ किंवा ‘पृश्निः’ कहा जाता है । सूर्य्य-रश्मियाँ पृषद्वती हैं, अनेक वर्णोपचीयमाना हैं—इसी अभिप्राय से श्रुति कहती हैः—

“आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः ।
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानती । व्यख्यन् महिषो दिवम् ।
त्रिंशद्धाम विराजति । वाक् पतङ्गाय धीयते । प्रतिवस्तोरह द्युभिः”
इति (ऋग्वेद १०।१८६।१,२)

अग्नि का वर्ण शुक्ल है अर्थात् हिरण्मय है—सुनहरी है । एवं सोम का वर्ण काला है । इन दोनों के संयोग-तारतम्य से, सूर्य—रश्मि में, धूम्र, शोणित, हिरण्मय, पीत, हरित, नील, कृष्ण—ये सात रंग उत्पन्न हो जाते हैं । कल्पना कर लीजिए—सूर्य—रश्मि के एक तरफ अग्नि है, दूसरी तरफ सोम है । अर्थात् एक तरफ काला है, दूसरी ओर हिरण्मय है । इधर से हिरण्मय काले वर्ण की ओर अपना रश्मि—प्रसार करता है, उधर से कृष्ण वर्ण हिरण्मय की ओर रश्मि—प्रसार करता है । हिरण्मय ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर पतला पड़ता जाता है, यहाँ तक कि काले के पास पहुँचते-पहुँचते वह एकदम पतला पड़ता जाता है । उसकी भिल्ली सी रह जाती है । एवमेव कृष्ण वर्ण ज्यों-ज्यों हिरण्मय की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर पतला पड़ता जाता है । हिरण्मय तक पहुँचते-पहुँचते वह काला वर्ण एकदम फीका पड़ जाता है ।

एक गोल सर्किल बनाइए । उसको ठीक मध्य में से काट दीजिए । उस कटे हुए अधिवृत्त तक हिरण्मय का राज्य रहता है, एवं आधे तक कृष्ण का राज्य रहता है । हिरण्मय के आधे-मण्डल में काला कमजोर रहता है; काले के आधे मण्डल में हिरण्मय कमजोर रहता है । यदि काला और हिरण्मय समान धरातल पर होते तो इनमें कभी ग्रन्थिबन्धन नहीं होता । परन्तु दोनों ही का धरातल विषम है । अतएव एक पार्श्व में काला रंग हिरण्मय से दब जाता है एवं दूसरे पार्श्व में हिरण्मय वर्ण काले में दब जाता है । एक जगह कृष्णवर्ण आधार है, हिरण्मय आधेय है, दूसरी ओर हिरण्मय आधार है, कृष्ण वर्ण आधेय है । बस, इस आधाराधेय के संयोग-तारतम्य से ही सात रंग उत्पन्न हो जाते हैं । जिस पार्श्व में अग्नि अर्थात् हिरण्मय आधेय है और सोम अर्थात् काला वर्ण आधार है, पहले उसी ओर से चलिए । काले से प्रारम्भ कीजिए । काला वर्ण दबा हुआ है और उसके पास ही का हलका सा हिर-

ण्मय वर्ण उस काले पर सवार है । बस, ईषत् हिरण्मय मिश्रित जो काला वर्ण है, वह पहला वर्ण है, इसी का नाम “धूम्रवर्ण” है । इसी धूम्र को नील-लोहित कहा जाता है । इसमें अग्नि की प्रधानता अवश्य है परन्तु वह अल्प मात्रा में है । काला भाग इसमें अधिक है । इसी धूम्र को वैंगनिया रंग कहा जाता है । रक्त और कृष्ण की मिश्रित अवस्था का नाम ही ‘धूम्ररंग’ है । आगे जा कर काला प्राण दब जाता है और हिरण्मय वर्ण का उद्भास हो जाता है, बस इसी को ‘शोणित’ कहते हैं । जो गहरा लाल होता है, उसे ही शोणित कहते हैं । हिरण्मय में यदि जरा सी स्याही और मिला दी जाती है तो वह गहरा लाल हो जाता है । इसी को (खूनी रंग को) शोणित रंग कहते हैं । इसी का नाम ‘रोहित’ ‘लोहित’ रंग है । यह उस काले पर सवार रहता है, अतएव इसे आरोहित कहते हैं । आरोहित के अभिप्राय से ही इसे लोहित कहा जाता है । इसके बाद कृष्ण प्राण बिल्कुल नहीं रहता, शुद्ध अग्नि का प्रातिस्विक रंग रह जाता है, यही ‘हिरण्मय’ रंग कहलाता है । इस प्रकार धूम्र से हिरण्मय तक अग्नि का उत्तरोत्तर चढ़ाव है । इसी चढ़ाव से धूम्र-शोणित-हिरण्मय तीन रंग हो जाते हैं । अब चलिए दूसरे पार्श्व की ओर । दूसरे पार्श्व में हिरण्मय आधार है, काला आधेय है । हिरण्मय जब जरा आगे बढ़ता है तो वह पीत वर्ण में परिणत हो जाता है । इसमें अधिक भाग सुनहरी का है और जरा काला है । इसके बाद काला बलवान हो जाता है, सुनहरी दब जाता है, यही हरित वर्ण है । अत्यन्त पीले वस्त्र के ऊपर रखे हुए श्यामल वस्त्र को यदि देखा जाता है तो वह हरित दिखलाई पड़ने लगता है । इसके बाद हिरण्मय की भाँई सी रह जाती है और काला अत्यन्त उलवण हो जाता है । यही रंग नीला कहलाता है । इसी के लिए श्यामल कोमलाङ्ग कहा जाता है । इसके अनन्तर शुद्ध काला बच जाता है । इस प्रकार अग्नि के अर्थात् हिरण्मय के और कृष्ण के तारतम्य से सात रंग हो जाते हैं । इन सातों में सबसे ऊपर लाल रहता है, उसके बाद शोणित रहता है, सुनहरी रहता है । उसके अनुसार पीला रहता है, बाद में हरित-नील-काला-वैंगनी अर्थात् धूम्र रहता है । इन सातों में जो ६ रंग हैं वे सर्वथा मायिक हैं, बनावटी हैं । सुनहरी और काले के मेल से हरित रंग उत्पन्न हो जाता है । सुनहरी अग्नि है, काला सोम है । वृक्ष के पत्तों में जब पृथिवी का काला प्राण और सूर्य का

हिरण्मय प्राण समान भाव से रहता है तो पत्ते हरित हो जाते हैं । जब—दोनों प्राण मिल जाते हैं तो हरित वर्ण हो जाता है । एवं सुनहरी और हरित के मेल से पीत रंग हो जाता है । एवं हिरण्मय और घूम्र के मेल से शोणित रंग हो जाता है । शोणित और पीत को मिलाने से सुनहरी रंग हो जाता है; काले और हरे को मिलाने से नीला रंग हो जाता है एवं काले और शोणित को मिलाने से घूम्र रंग हो जाता है ।

इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि छः और रंग मिश्रित हैं, मायिक हैं । इन छःओं में असली रंग एक भी नहीं है । यदि असली रंग कोई कोई है तो काला और सफेद ही है । सातों रंगों की जो जीवितावस्था है, वही सफेद है, सातों की मृत्यु-अवस्था ही काला रंग है । सातों रंग जीवितावस्था में जब एक बिन्दु पर आ जाते हैं तो वह शुक्ल रूप हो जाता है, एवं सातों मर जाते हैं तो कृष्ण रूप रह जाता है । बस, शुक्ल और कृष्ण ये दो ही रंग सच्चे हैं । बाकी के सारे रंग मायिक हैं । वस्तुतः देखा जाय तो शुक्ल और कृष्ण (निरुक्त कृष्ण) भी मिथ्या ही है क्योंकि ये भी उन्हीं सातों के संयोग से उत्पन्न होते हैं । परन्तु औरों की अपेक्षा यह नित्य है, अतएव आपेक्षिक नित्यता को लक्ष्य में रख कर इन्हें सत्यवत् बतला दिया जाता है । काला और सफेद दो ही रंग सच्चे हैं—इसी विज्ञान को समझाने के लिए परमेश्वर ने रात—दिन बना दिए हैं । रात काली है, दिन सफेद है । दो ही रंग सच्चे हैं । लाल, पीले इत्यादि सारे रंग साध्य हैं—संयोगजन्य हैं अतएव मायिक हैं ।

सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यहो है कि सोम काला है, अग्नि शुक्ल है । दोनों ही सूर्य्य गौ में अर्थात् रश्मि में मौजूद हैं । सूर्य्य—रश्मि अग्नीषोमात्मिका है, अतएव हम इसे शुक्लकृष्णात्मिका कहने के लिए तैयार हैं । शुक्ल और कृष्ण के मेल से ही सात रंग हो जाते हैं । इससे सिद्ध हो जाता है कि सूर्य्य की प्रत्येक रश्मि में सात—सात डोरे रहते हैं । इन सात डोरों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण अग्नि-सोम का पारस्परिक आक्रमण है । संसार के जितने भी पदार्थ हैं, उन सब पर सातों रंगों वाली सूर्य्य—रश्मियाँ आती हैं । प्रत्येक पदार्थ में—सूर्य्य—रश्मियों को चूसने वाला भिन्न-भिन्न प्राण रहा करता

है। वह प्राण आगत सूर्य-रश्मि को उसी समय चूस जाता है। वस, जिस रंग को वह वस्तु-प्राण नहीं चूसता, वही रंग, उस वस्तु का रंग बन जाता है। जो वस्तु, लाल दीखती है-सिद्धान्त समझो, वहाँ सातों रंग मौजूद हैं। काले, पीले, नीले, रंगों का नाम ही तो रूप है। रूप के अधिष्ठाता इन्द्र ही हैं, जैसा कि प्रतिष्ठा-कृष्ण-रहस्य में बतला दिया गया है। अतएव-‘इन्द्रो रूपाणि करी हृदचरत्’ “रूपं रूपं मघवा बोभवीति” (ऋग्वेद ३।५३।८) यह कहा जाता है।

इन्द्र सूर्य की रश्मियों में रहने वाले चित्तेनिधे प्राण का नाम है। उसी की नोदना से सप्तवर्णयुक्ता सूर्य-रश्मि का पदार्थ से सम्बन्ध होता है। वे सूर्य-रश्मियाँ प्रतिफलित होकर जब हमारी आँखों पर आती हैं, तब हमें रूप का (काले-पीले-नीले का) प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि रहते हैं वहाँ सातों रंग किन्तु छः रंगों को पदार्थ-स्थित प्राण पी जाता है। जिसको वह नहीं पी सकता, वही हमें दीखा करता है। वही वस्तु का रंग कहलाने लगता है। परन्तु इतना अवश्य है कि यदि पदार्थ का प्राण सातों रंगों को पी जाता है तो वहाँ काले रंग का उदय हो जाता है। सारे रंगों की मृत्यु का जो स्वरूप है, वह यही काला वर्ण है। ठीक इसके विरुद्ध, यदि सातों में से एक को भी नहीं पीता तो-समझ लो-वहीं उसी समय शुक्ल रूपोदय हो जाता है। सातों की मृत्यु-कृष्ण है। सातों का जीवन शुक्ल है। एक कमल का पत्ता बनाइए-उसमें सात रंग के सात ही काष्ठ के पत्ते रखिये और उसे यन्त्र द्वारा घुमाइये। जिस समय प्रबलवेग के कारण सातों रंग एक बिन्दु में आ जाएंगे, उस समय वह कमल का पत्ता सफेद दिखलाई पड़ने लगेगा। उस चक्र के रूप देखने का कोई क्षण नियत होता है। यदि उसी क्षण में एक बिन्दु पर सातों आ जाते हैं तो सातों सफेद हो जाते हैं। अतएव सातों की जीवित अवस्था को हम ‘शुक्ल’ कहने के लिए तैयार हैं। शुक्ल का दूसरा नाम है-‘श्वेत’। वस्तु के साथ ‘सौर प्राण’ का-सूर्य-गौ का-सम्बन्ध तीन प्रकार से हुआ करता है। तीनों में से पहले सम्बन्ध का नाम है आत्मीय। सूर्य-रश्मि का पदार्थ की अपनी वस्तु बन जाना ही आत्मीय सम्बन्ध कहलाता है। लाल-पीला रंग है, वह असल में सूर्य की वस्तु थी, परन्तु आज प्रवर्ग्य बन कर इसकी आत्मा बन गयी है। दूसरा सम्बन्ध है-आगन्तुक। काच में सूर्य-

रश्मियाँ आती अवश्य हैं, परन्तु पार हो कर वापिस उधर ही लौट जाती हैं। तीसरा सम्बन्ध भी—आगन्तुक ही है। परन्तु इसमें इतना ही है कि पहले वाले में रश्मि उधर निकल जाती है, दूसरे में, उधर न निकल कर चर्म का स्पर्श मात्र कर लौट जाती है। जो वस्तु श्वेत दीखती है, वहाँ सातों में से एक भी रंग आत्मा नहीं बनता और न उस पार ही जाता है। चर्म का स्पर्श कर जीवित अवस्था में रह कर वापिस लौट जाता है। अतएव 'शु एतः (आगतः) इस व्युत्पत्ति से हम इसे श्वेत कहने के लिए तैयार हैं। वे सातों रंग—इतने शीघ्र आकर चले जाते हैं कि पता भी नहीं रहता। इस प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र के आधार पर सोम और अग्नि-अर्थात् शुक्ल-कृष्ण भावनृत्य किया करते हैं। काला रंग सबको चूसे रहता है। अतएव उसे कृष्ण कहते हैं। काला और शुक्ल दो ही प्रधान रंग हैं। बाकी के रंग माया-मात्र हैं। सात रंग मोटे-मोटे बतलाए हैं, वास्तव में, इनके अवान्तर संयोग-भेद से अनन्तानन्त रंग हो जाते हैं। ये सारे रंग होते हैं—पूषा प्राण की बदौलत। पूषा कहते हैं—पृथिवी को। “इयं वै पूषा पृथिवी”—पृथिवी का प्राण—सोम के कारण काला है जब कि सूर्य—अग्नि पिण्ड है—अतएव हिरण्य है। बस, इन दो के मेल से ही सारे रंगों की उत्पत्ति होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती हैः—

“शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निहरातिरस्तु ॥”
(ऋग्वेद मं. ६।५८।१)

ये सातों रूप सूर्य में उत्पन्न होते हैं, अतएव इन सातों को हम भूत-ज्योति कहने के लिए तैयार हैं। इसीलिए पूर्व में हमने “रूपं-रूपं मधवा बोभवीति” यह कहा है।

बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैंः—

“तथा हि कृष्ण शुक्लानां सूर्यगवामन्योन्य संयोग तारतम्यात्—सप्तैते वर्णाः सूर्यं रश्मिषु प्रादुर्भवन्ति—“धूम्रः, शोणितः, हिरण्यः, पीतः, हरितः, नीलः, कृष्ण इति ।—तदेतत् सप्तकं भूतज्योतिः ।”.....

सूर्य का जो 'सोलर सिस्टम' है, उसी का नाम संवत्सर—मण्डल है। इसी संवत्सर—मण्डल में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर—ये छः ऋतुएँ हैं। इन छः ऋतुओं का कारण यही अग्नीषोमात्मक सम्बन्ध है। अग्नि एवं सोम के सम्बन्ध—तारतम्य से ही छः ऋतुएँ हो जाती हैं। अग्नि—सत्य एवं ऋतु भेदेन दो प्रकार की है। ऋताग्नि में जब सोम की आहुति होती है, तब 'ऋतु' का जन्म होता है। जिस समय सूर्य दक्षिण गोल की चरम क्रान्ति पर पहुँच जाता है—अर्थात् गायत्री छन्द पर पहुँच जाता है—उस समय आग्नेय प्राश एकदम शिथिल हो जाता है। सूर्य के उत्तरायण होते ही अग्नि—परमाणु पदार्थों—में बसने लगते हैं। यहीं से अग्नि बढ़ने लगता है। बस यही पहली-वसन्त ऋतु है। 'पत्रकाले अग्नि—कणाः पदार्थेषु वसन्तो भवन्ति' इस व्युत्पत्ति से इसे 'वसन्त' कहा जाता है। यहाँ पर काले सोम पर जो कि अन्तरिक्ष में व्याप्त हो रहा है, अग्नि सवार हो जाता है। परन्तु अग्नि की मात्रा इस ऋतु में बहुत थोड़ी रहती है, काला अधिक रहता है, अतएव हमने इस रंग को 'धूम्र' अर्थात् बैंगनिया बतलाया है। इसके बाद जब और अधिक अग्नि अर्थात् हिरण्मय वर्ण प्रबल हो जाता है तो उस ऋतु का 'अथ क्रमेण प्राबल्यं गच्छन् सर्वमाक्रम्य पदार्थान् गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से इस ऋतु को 'ग्रीष्म' ऋतु कहा जाता है। यहाँ हिरण्मय प्रबल है। इसी रंग को हमने 'शोणित' बतलाया है। इसके अनन्तर, अग्नि और भी प्रबल होता है, अतएव 'अतिशयेन ऊरुइति अथवा वर्षत्येतत्कर्मणावा' इस ऋतु को वर्षा ऋतु कहते हैं। अग्नि जब परम सीमा पर पहुँच जाती है तो 'अग्ने रायः' इस सिद्धान्त के अनुसार यह अग्नि पानी के स्वरूप में परिणत हो जाता है। यहाँ आते-आते सोम दब जाता है और अग्नि का अपना हिरण्मय रूप रह जाता है। बस, वसन्त मास से प्रारम्भ कर यहाँ तक अर्थात्—धूम्र, शोणित, हिरण्मय तक अग्नि का 'उद्ग्राभ' (चढ़ाव) है। आग्नेय प्राण को देवता कहते हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा में अग्नि का चढ़ाव रहता है, अतएव 'वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः—ते देवा ऋतवः' (शत. २।१।३।१) यह कहा जाता है। यहाँ से अब अग्नि घटने लगता है और घटे हुए अग्नि में सोम भरने लगता है। अग्नि के निग्राभ की जो पहली अवस्था है—पहला समय है, उसे 'यस्मिन् काले अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति' इस व्युत्पत्ति से 'शिशिर' कहा जाता है। 'वसन्त ग्रीष्म वर्षा' में अग्नि आवेय था, सोम आधार था, परन्तु

यहाँ से अग्नि आधार बन जाता है, एवं सोम आधेय बन जाता है। इसी अग्नि के उत्तर-स्वरूप पहले रंग को हमने पीला कहा है। इसके अनन्तर अग्नि की मात्रा और भी कम हो जाती है, अतएव 'यस्मिन् काले हीनतां प्राप्ता अग्निकणाः' इस व्युत्पत्ति से इस समय को 'हेमन्त' कहा जाता है। इसी को हमने हरित वर्ण कहा है। इसके अनन्तर अग्नि एकान्ततः क्षीण हो जाता है। सोम ही का प्राधान्य हो जाता है। अतएव 'अथ पुनः पुनरतिशयेन शीर्णा अग्निकणाः' इस व्युत्पत्ति से इस ऋतु को 'शिशिर ऋतु' कहा जाता है। यही हमारा नीला रंग है। इसके अनन्तर वही शुद्ध काला सोम बच जाता है। आग्नेय प्राण को जैसे देवता कहते हैं, सौम्य प्राण को पितर कहते हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा में जैसे आग्नेय प्राण की प्रधानता रहती है, वैसे ही शरत्, हेमन्त, शिशिर में पितर प्राण की प्रधानता रहती है। अतएव 'शरद्धेमन्तः शिशिर-स्ते पितरः' यह कहा जाता है। सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि अग्नि के उद्ग्राभ-निग्राभ (चढाव-उतार) से ही एक संवत्सर छः ऋतुओं में परिणत हो जाता है। अग्नि का ही चढाव-उतार बतलाया गया है न कि सोम का। कारण इसका यही है कि सोम नित्य पदार्थ है, अमृत है। वह न घटता है, न बढ़ता है। यह तो सर्वत्र एकरूपेण भरा हुआ है। यदि अग्नि अधिक आ जाता है तो वह हटा हुआ मालूम पड़ने लगता है, यदि अग्नि कम रहता है तो वह उल्बण मालूम होता है। परन्तु जहाँ अग्नि की प्रधानता समझी जाती है, वहाँ भी वह अन्तर्निगूढ़ रहता है। ऐसा कोई भी प्रकाश नहीं है जिसमें कि अन्धकार न हो। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

इन सातों रंगों में—अग्नि के उद्ग्राभ स्वरूप धूम्र-शोणित-हिरण्मय-ये तीन तो आग्नेय ऋतुएँ हैं। एवं अग्नि के निग्राभ स्वरूप पीत-हरित-नील-ये तीन सौम्य ऋतुएँ हैं। एवं सातवाँ यह काला सारे रंगों में अन्तर्निगूढ़ होकर अविनाशी रूपेण रहने वाला नित्यतत्त्व है। शुद्ध सोम जो काला है, परमेष्ठी की वस्तु है। अतएव हम उसे 'अमृत' कहने के लिए तैयार हैं। यही पारमेष्ठ्य सोम हिरण्मय अग्नि में मिल कर सात रंगों में परिणत हो जाता है। इन सातों में जो काला रंग है, वह तो औरों की तरह मृत्यु ही है। जिसे

हम काला रंग कहते हैं, जो कि सब सातों की मृत्यु-अवस्था है, वह अमृत नहीं है। कार्य रंगाभावस्वरूप जो शुद्ध-सोम है, उसे ही हम 'सत्य-कृष्ण' कहने के लिए तैयार हैं—

“तत्राग्नेरुद्ग्राभ लक्षणा धूम्रादयस्यस्त्रय आग्नेया ऋतवः ।
अथाग्नेर्निग्राभलक्षणाः पीतादयस्त्रयः सौम्या ऋतवः । कृष्णस्त्व-
यमेकः सर्वान्तिगूढोऽविनाशी भावः ।”

पूर्वोक्त जो सातों रंग हैं, वे भूत-ज्योति-स्वरूप हैं। सातों ही प्रकाश-मान हैं। सूर्य-प्रकाश सफेद दीखता है, इसका कारण यही है कि उसमें जीवित है। बस सातों ही भूत-ज्योति स्वरूप हैं। इन सातों भूत-ज्योतियों का जो अत्यन्ताभाव है, उसी में 'ज्योतिरभावस्तमः' इस दर्शन-सिद्धान्त से सिद्ध 'तम' शब्द प्रवृत्त होता है। 'ज्योतिरभावस्तमः' में जो तम शब्द है, वह भूत-ज्योति का अभाव-स्वरूप ही है। प्रकाशाभाव का नाम ही तम है। यही तम हमारा अनिरुक्त-कृष्ण है। सातों का अभाव-स्वरूप जो तम है, वही 'अनिरुक्त' कृष्ण है—

“सप्तानामप्येषां भूत-ज्योतिषामत्यन्ताभावे ज्योतिरभावस्तम
इति सिद्धान्तसिद्धं तमः प्रवर्तते-तदनिरुक्तं कृष्णम् ।”

इस अनिरुक्त-कृष्ण का-भौतिक ज्योति-सहकार की अपेक्षा न रख कर चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया जाता है। यदि भूत-ज्योति (सूर्य-चन्द्र-अग्नि-विद्युत्) का प्रवेश हो जाएगा तो उसी समय यह अनिरुक्त-कृष्ण गायब हो जाएगा। कृष्ण-पक्ष की रात्रि में, एवं निबिड अन्धकार में, जहाँ, सूर्य के प्रकाश को जरा भी मौका नहीं मिलता, एवं आँख मीच लेने पर चक्षुरिन्द्रिय से प्रतीत होने वाला जो तम है, वह चूँकि कृष्ण-रूपेण प्रतीत होता है-दिग्देश कालानवच्छिन्न है, एवं वर्णनातीत है, अतएव हम ज्योतिरभावस्वरूप तम को अवश्य ही अनिरुक्त-कृष्ण कहने के लिए तैयार हैं—

“भौतिक ज्योतिः सहकारित्वानपेक्षेण चक्षुषेदंतमः साक्षात्
क्रियते । रात्रादौ-घोरेअन्धकारे चक्षुर्निमीलिते वा चक्षुषा प्रत्यापितस्य
तमसः कृष्णत्वेनावभासमानत्वात् ।”

ज्योतिः कृष्ण के प्रारम्भ में कृष्ण और शुक्ल दोनों को ज्योति बतलाया गया है । जैसे शुक्ल ज्योति है तथैव कृष्ण ज्योति है । परन्तु पूर्वकथन से इस प्रतिज्ञा का विरोध होता है । ज्योति के अभाव को पूर्व प्रकरण में कृष्ण बतलाया जाता है । ऐसी अवस्था में प्रारम्भ कर 'कृष्ण' को ज्योति स्वरूप बतलाना क्यों कर संगत हो सकता है ? इसी का समाधान करते हैं ।

ज्ञान-भूत भेदेन ज्योति दो प्रकार की होती है । भूत-ज्योति के अधिष्ठाता सूर्य हैं, ज्ञान-ज्योति के अधिष्ठाता—'स्वयम्भू' भगवान् हैं । सूर्य से ऊपर परमेष्ठी है और परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है । इस प्रकार भगवान् स्वयम्भू के पेट में अर्थात् ज्ञान-ज्योति के पेट में सारा ब्रह्माण्ड समा रहा है । भूत-ज्योतिर्धन सूर्य के न रहने पर भी ज्ञान-ज्योति का अभाव नहीं रहता । जिस 'अनिरुक्त-कृष्ण' का हम वर्णन कर रहे हैं वह परमेष्ठी की वस्तु है । परमेष्ठी में, यद्यपि, भूत-ज्योति का अभाव है, तथापि ज्ञान-ज्योति वहाँ पर अवश्य ही मौजूद है, क्योंकि परमेष्ठी तो ज्ञान-ज्योतिर्मय स्वयम्भू के पेट में है । बस, इस ब्रह्म-ज्योति के कारण ही हम रात्रि-स्वरूप 'कृष्ण' को ज्योतिः शब्देन व्यवहृत कर सकते हैं । अपिच उस अनुपाख्य कृष्ण की अपेक्षा यह सारा विश्व ज्योतिस्वरूप है । यह विश्व भासता है अतएव हम इसे ज्योति-स्वरूप कहने के लिए तैयार हैं । जब सूर्य नहीं रहता-अर्थात्-अस्त हो जाता है, तब भी विश्व-ज्योति अवश्य ही रहती है । इसीलिए तो रात्रि का तम भासता है । जब आँखों से उसका प्रत्यक्ष होता है तो फिर ऐसी अवस्था में उसे 'ज्योति' से बाहर क्यों कर किया जा सकता है ? आप ज्योति का अभाव बतला रहे हैं—हम ब्रह्म-ज्योति और विश्व-ज्योति—दो-दो ज्योतियों की सत्ता बतला रहे हैं । भूत-ज्योति का अभाव रहने पर भी ब्रह्म-ज्योति और विश्व-ज्योति के विद्यमान रहने के कारण अनिरुक्त कृष्ण के ज्योति-स्वरूप को नहीं छुपाया जा सकता । विवक्षा भेदेन—ब्रह्म-ज्योति और विश्व-ज्योति—दोनों अनिरुक्त कृष्ण में मौजूद हैं । सृष्टि का जो अभाव है, उस समय जो सोमरूपा रात्रि है, वहाँ ब्रह्म ज्योति विद्यमान है । विश्वाभावस्वरूप अनिरुक्त कृष्ण के लिए ही—'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' यह कहा जाता है । एवं विश्व में रात्रि-स्वरूप जो अनिरुक्त कृष्ण है—वह विश्व-ज्योति स्वरूप है । अनिरुक्त कृष्ण

विश्व भी है, विश्वातीत भी है। अनुपाख्य कृष्ण विश्वातीत ही है। अनिरुक्त-कृष्ण विश्व ही है। कहना यही है कि ब्रह्म-विश्वोमय ज्योति के विद्यमान रहने के कारण हम 'अनिरुक्त कृष्ण' को 'ज्योति कृष्ण' शब्द से अवश्य ही व्यवहृत कर सकते हैं—

“तत्रच भूत-ज्योतिष्ट्वाभावेन 'तमस्त्व' व्यवहारेऽपि ब्रह्म-ज्योतिष्ट्व विश्व-ज्योतिष्ट्वयोरपरिहाराज्ज्योतिष्ट्व व्यवहारोऽपि-नापोद्यते। विवक्षा भेदेनोभयोः सामञ्जस्य संभवात्।”

अपिच जिस सोम को हमने—‘अनिरुक्त-कृष्ण’ बतलाया है, वह सोम—चन्द्रसोम—दिक्सोम भेदेन दो प्रकार का है। भास्वर एवं पिण्ड से उत्पन्न होने वाला अतएव सायतन जो सोम है—वह सत्य-स्वरूप है, वही “चन्द्रमा” नाम से प्रख्यात है। चन्द्रमा सोम का गोला है। अतएव—“एवद्वै सोमो राजा देवानामन्यं यच्चन्द्रमाः” यह कहा जाता है। संसार में ऋत-सत्य भेदेन पदार्थ दो ही प्रकार के होते हैं। ऋत क्या है? और सत्य क्या है? इसका विस्तृत विवेचन यद्यपि नहीं किया जा सकता, तथापि इसका थोड़ा सा सूक्ष्म-स्वरूप बतला देना—अनुचित न होगा। जिस वस्तु में—जिस पदार्थ में—केन्द्र होता है, वही सत्य कहलाता है। केन्द्र-धर्मी पदार्थ ‘सत्य’ कहलाता है। जो अपने मार्ग से—लाइन से च्युत न हो उसी का नाम सत्य है। जो तत्त्व सदा एकरूप रहता है, वही ‘सत्य’ पद से वाच्य है। जिस पदार्थ में केन्द्र होता है, वह वास्तव में अपनी लाइन (लीक) को नहीं छोड़ता। जो पिण्ड वस्तु होगी, उसमें अवश्य ही केन्द्र (सेण्टर) होगा। सूर्य पिण्ड-रूप है अतएव उसमें केन्द्र मानना पड़ता है। इस सूर्य से जो चारों ओर रश्मियाँ निकलती हैं, वे केन्द्र से बद्ध हो कर ही निकलती हैं, अतएव वे अपने नियत मार्ग को नहीं छोड़तीं। कल्पना कर लीजिए—सूर्य की एक रश्मि कलकत्ते जा रही है, एक बम्बई जा रही है, एक मद्रास जा रही है, एक जयपुर आ रही है। चाहे पृथिवी इधर से उधर हट जाय, किन्तु रश्मियाँ अपने इन नियत मार्गों को नहीं छोड़ सकतीं। मद्रास में जाने-वाली सूर्य-रश्मि कमी जयपुर में नहीं आ सकती। जयपुर में आने वाली कमी मद्रास में नहीं जा सकती। अतएव हम सायतन-पिण्ड को सत्य कहने के लिए तैयार हैं। बड़े आवरण की कौन कहे? आती हुई सूर्य-

रश्मि के सामने आप एक 'तिल' रख दीजिए, वह मार्ग रुक जाने से आगे न जा कर उसी में से प्रतिफलित हो जाएगी, परन्तु अपनी लाइन को नहीं छोड़ेगी। क्या मजाल ? रश्मि तिल के इधर-उधर से निकल जाय। सूर्य में सारे देवता रहते हैं। रश्मि का नाम ही तो देवता है। देवता अपने मार्ग से च्युत नहीं होते। अतएव 'सत्य संहिता वै देवाः' यह कहा जाता है। सूर्य निदर्शन मात्र है। संसार में जितने भी सायतन-पिण्ड पदार्थ हैं—सकेन्द्र पदार्थ हैं, उन्हें हम 'सत्य' कहेंगे। साथ ही में इतना और समझ लेना चाहिए कि यह सत्य-व्याप्य है—परिच्छिन्न है, इसे नियमित-प्रदेश में रहना पड़ता है। अतएव इसे 'ससीम' कहने के लिए तैयार हैं। ससीमता का कभी न कभी अवश्य ही विनाश होता है, अतएव, हम सत्य पदार्थों को अर्थात् पिण्ड पदार्थों को अनित्य कहने के लिए तैयार हैं।

दूसरा तत्त्व है—'ऋत'। जिसमें केन्द्र नहीं होता, वही पदार्थ 'ऋत' कहलाता है। पानी-सोम-हवा-ये पदार्थ केन्द्र नहीं रखते, अतएव हम इनको 'ऋत' कहने के लिए तैयार हैं। आप-वायु-सोम तीनों ऋत हैं—तीनों ही परमेष्ठी की वस्तु हैं—अतएव—

'ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नान्येति किञ्चन' यह कहा जाता है।—पानी जोर से बहता हुआ आ रहा है और उसे रोकने के लिए आपने किसी का आवरण कर दिया है, तब भी वह रुकेगा नहीं, अपितु आवरण के दोनों ओर से निकल जायगा। सूर्य—रश्मि की तरह पानी का मार्ग नियत नहीं है। अतएव हम इसे 'ऋत' कहने के लिए तैयार हैं। जो ऋत पदार्थ होता है, वह केन्द्र नहीं रखता, वह तो सर्वत्र व्याप्त रहता है। अतएव हम इसे 'नित्य' कहने के लिए तैयार हैं, क्यों कि व्यापक वस्तु का—असीम का—विनाश नहीं हो सकता। बस, संसार में ऋत—सत्य ये दो ही तत्त्व हैं। अग्नि, सत्य बन जाता है, सत्य ऋत बन जाता है। सूर्य जैसे अग्निमय है, वैसे ही पृथिवी भी अग्निमय है। पृथिवी के अग्नि का नाम गायत्राग्नि है, इसे ही 'अङ्गिराग्नि' भी कहते हैं। यह अङ्गिराग्नि घन-तरल-विरल रूप से परिणत होता हुआ प्रबल वेग से द्युलोक की ओर जाया करता है। अतएव—

“इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन् ।” ग्रामङ्गिरसोपयुः”

(सा० वे० पु० १।१०।२)

यह कहा जाता है । एवं सूर्याग्नि को ‘सावित्राग्नि’ किंवा ‘आदित्याग्नि’ कहा जाता है । पृथिवी और सूर्य का अन्तर नौ करोड़ मील का है । सूर्य पृथिवी से ४॥ (साढ़े चार) करोड़ कोस दूर है । इस सूर्य के ऊपर-पार-मेष्ठ्य ब्राह्मणस्पत्य सोम है, जिसके लिए—

“पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।

अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहंतस्तत्समासत ॥”

(ऋग्वेद ६।८३।१)

कहा जाता है । अग्नि की सत्ता सोमाहुति पर निर्भर है—यह बात हम पूर्व-प्रकरण में बतला आये हैं । बिना सोम के अग्नि एक सेकण्ड नहीं रह सकता । अग्नि अन्नाद है—यह हर वक्त अन्न चाहा करता है । पृथिवी में भी अग्नि है—सूर्य भी अग्निमय है । अतएव दोनों के लिए सोम की आवश्यकता है । सोम है—सूर्य से भी ऊपर परमेष्ठि-मण्डल में । वह यद्यपि पृथिवीलोक में आता है, परन्तु सूर्याग्नि बीच ही में उसे आहुत कर लेता है । अतएव पृथिवी पर वह सोम नहीं आ पाता । सूर्य का तो पास में ही रहने वाले—ब्रह्मणस्पति में रहने वाले सोम से काम चल जाता है परन्तु पृथिवी कोरी ही रह जाती है । इसीलिए उस जगन्नियन्ता परमेश्वर ने पृथिवी के आग्नेय-देवताओं की स्थिति के लिए उस व्यापक पारमेष्ठ्य सोम में से थोड़ा सा सोम लेकर पृथिवी के पास ही रख दिया है जो कि चन्द्रमा नाम से प्रख्यात है । यह सोम (चन्द्रमा) कैसे पृथिवी पर आया—इसके लिए—‘सौपर्ण काद्रव’ आख्यान देखना चाहिए । (शत० ३।२।४ सोमाख्यान ब्राह्मण)

पूर्व कथन से सिद्ध हो जाता है कि वही व्यापक सोम प्रवर्ग्य बन कर चन्द्ररूप में परिणत होकर—सत्य बन जाता है । ऋतसोम-पिण्डप्रभव-अतएव सायतन बनकर ‘सत्य’ कहलाने लगता है । सोम ऋत है अतएव अमृत है । परन्तु चन्द्रसोम—सायतन बन कर सत्य बन जाता है अतएव यह अग्नित्य हो जाता है । इस चन्द्र सोम को भास्वर—सोम कहते हैं । इस पर सूर्य का

प्रकाश पड़ने से यह चमकने लगता है, अतएव भास्वर कहलाने लगता है । एवं जो सोम-पिण्ड रूप में परिणत नहीं हुआ है, निरायतन है, वह ऋतात्मा कहलाता है । यही सोम 'दिक् सोम' नाम से व्यवहृत होता है । वास्तविक सोम-दिक् सोम ही है । यह ब्रह्मणस्पति में अपना मूल रखता हुआ सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहता है । अतएव इसके लिए—'त्वमातनो सर्वान्तरिक्षम्' यह कहा जाता है । पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण जो दिशाएँ हैं, वे वास्तव में कल्पित हैं । वास्तव में देखा जाय तो सब पूर्व हैं, सब पश्चिम हैं, सब दक्षिण हैं । दिक् एक व्यापक शब्द है । निरायतन ऋतात्मा सोम चूँकि व्यापक है, अतएव उसे 'दिक्' शब्द से व्यवहृत किया जाता है । संपूर्ण कथन से बतलाना हमें यही है कि एक ही सोम-सायतन-निरायतन-दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है । सायतन सोम चन्द्रमा है, यही भास्वर सोम नाम से व्यवहृत होता है एवं यही सत्यात्मा चन्द्रमा पार्थिव-आग्नेय देवताओं का अन्न है । एवं सर्वाकाश परिव्यापी-निरायतन ऋतात्मा सोम 'दिक् सोम' नाम से व्यवहृत होता है । यह सौर आग्नेय देवताओं का अन्न है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

“अपिच ब्रूमः—चन्द्रसोमदिक् सोम भेदात्—सोमो द्विविध-
इष्यते । भास्वरः पिण्डप्रभावः सायतनः सत्यश्चन्द्रः । सर्वाकाश
परिव्यापी निरायतन ऋतात्मा दिक् सोमः ।”

यह दिक् सोम-सूर्य की सावित्र रश्मि से युक्त हो कर ज्योति-स्वरूप में परिणत हो जाता है । सूर्य वास्तव में काला है । सूर्य में जो प्रकाश दीखता है, वह सोम के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है । सूर्य काला है, इसमें 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' यह मन्त्र-श्रुति ही प्रमाण है । गन्ध-रूप-रस-स्पर्श-शब्द रहित जो एक तत्त्व-विशेष है, वही 'प्राण' शब्द से व्यवहृत होता है । इसे ही 'असत्' और 'ऋषि' भी कहा जाता है । प्राण गन्ध-रूप-रसाभाव युक्त है, अतएव हम अवश्य ही 'असत्' कहने के लिए तैयार हैं । प्रतीयमान वस्तु के लिए 'अस्ति' कहा जाता है । जबकि प्राण-गन्धरूपादि से सर्वथा शून्य है, अतएव अप्रतीयमान है तो उसे कैसे 'सत्' कहा जा सकता है ? अतएव इस प्राण को वैदिक महर्षि 'असत्' कहा करते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—

‘असदेवेदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीति—ऋषयो वाव तदग्रे असदासीत् । तदाहुः—के ते ऋषय इति—प्राणावा ऋषयः ।

इससे सिद्ध हो जाता है कि सूर्य सर्वथा नीरूप है, जब कोई रूप नहीं रहता तो अन्त में काला ही बच जाता है । अपिच—स्पष्ट शब्दों में सूर्य को काला बतलाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

“एषवाऽइन्द्रो य एष तपति । न ह वाऽएषोऽप्रेतताप । यथाहैवे-
दमन्यत्कृष्णं—एवं हैवास । तेनैव (सोमेनैव) एतद्वीर्येण तपति ॥”
(शतपथ ३।४।२।१५)

ब्राह्मणश्रुति तक भी जाने की क्या आवश्यकता है, जबकि—

“आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानः निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनआ देवः याति भुवनानि पश्यन् ।”
(ऋग्वेद मं० १।३५।२)

यह श्रुति स्पष्ट ही सूर्य को काला बतला रही है । इस कृष्ण सूर्य से निकलते हुए जो नीरूप सौर प्राण हैं, उन्हीं को—सावित्र-प्राण कहते हैं । परोरजा प्राण-आप्य प्राण-आग्नेय प्राण-सौम्य प्राण भेदेन प्राण की मोटी-मोटी चार जातियाँ हैं । चारों में ‘सावित्र-प्राण’—‘आग्नेय-प्राण’ समझना चाहिए । जब, सूर्य से, रश्मि-रूप में परिणत हो कर निकलने वाले इस सावित्र प्राण से उस पारमेष्ठ्य दिक् सोम का सम्बन्ध होता है तो स्वभाव से ही दाह्य-धर्मा होने के कारण यह सोम चमक पड़ता है, ज्योति-स्वरूप हो जाता है । तेल-स्प्रिट-दारू (शराब)—राल-इत्यादि पदार्थ जो कि सोममय ही हैं, जैसे अग्नि में पड़ कर भभक उठते हैं—प्रज्वलित हो जाते हैं; ठीक इसी प्रकार सावित्र-आग्नेय-प्राण-संयोग से, अन्तरिक्ष में व्याप्त दिक् सोम प्रज्वलित हो, ज्योतिर्मय बन जाता है । हम जो प्रकाश देख रहे हैं, वह असल में सावित्र प्राण युक्त सोम का ही है, न कि सूर्य का । सोम ही सावित्र-प्राण से युक्त हो कर अन्धकार को तिरोहित करता है । इसमें निम्नलिखित मन्त्र-श्रुति ही प्रमाण है—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वंगाः ।

त्वमाततंथोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥”

(ऋग्वेद मं० १।६१।२२)

हे सोम ! आपने ज्योति से अन्धकार को फाड़ डाला है—विशंकलित कर डाला है । यह मन्त्र का तात्पर्यार्थ है । यह सोम—सूर्य के सावित्र-प्राण-सम्बन्ध होने से ही ज्योतिर्मय बनता है । प्रातिस्विक रूपेण यह सर्वथा काला है । जब यह सावित्र-प्राण से अलग हो जाता है, तो यह अपने उसी प्रातिस्विक कृष्ण रूप में आ जाता है । इसमें—

‘ब्रह्मा कृष्णश्चनोऽवतु ।’ (शतपथ १३।२।७।७)

यह श्रुति ही प्रमाण है । प्राकृतिक यज्ञ में—अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उदगाता है और चन्द्रमा ब्रह्मा है । ब्रह्मा को काला बतलाया गया है । यह काला ‘दिक् सोम’ के अभिप्राय से ही बतलाया गया है । चन्द्रमा-सोम वही दिक् सोम है । अवस्थान्तरित हो जाने पर भी वस्तु वही है, अतः एव ‘दिक् सोम’ के लिए ‘ब्रह्मा’ कह दिया गया है । बस, यही शुद्ध दिक्-सोमात्मा हमारा ‘अनिरुक्त’ कृष्ण है । इसी अभिप्राय से कहते हैं:—

“त्वं ज्योतिषावितमो ववर्थ “इति मन्त्र श्रवणात्” स यदा सूर्य्य प्राणे-नावयुज्यते तर्हि स्वेन कृष्णरूपेण संपद्यते-“ब्रह्मा कृष्णश्चनोऽवतु” इति मन्त्र श्रुत्या दिक् सोमस्य कृष्णत्वावगमात् । तदिदं दिक् सोमस्यात्मरूपमिदमनिरुक्तं कृष्णमिति भाष्यम् ।”

“इत्यनिरुक्त कृष्ण स्वरूप निदर्शनम् ।”

अनुपाख्य और अनिरुक्त कृष्ण का स्वरूप बतला दिया गया । अब क्रम-प्राप्त निरुक्त-कृष्ण का स्वरूप बतलाना चाहिए—

“अथ निरुक्तः कृष्णो वक्तव्यः” इति ।

हमने पूर्व-प्रकरण में बतला दिया है कि आग्नेय ज्योति “भूत-ज्योति” कहलाती है । इसी भूत-ज्योति के विषय में हमें कुछ कहना है । भूत-ज्योति-

रधिष्ठाता इस अग्नि के—‘प्रबुद्ध-प्रसुप्तावस्था’ से-दो भेद हो जाते हैं । जाग्रत्-सुषुप्ति अवस्था भेद से एक ही अग्नि अपने दो स्वरूप धारण कर लेता है । प्रबुद्ध अग्नि-शुक्ल स्वरूप (हिरण्य) में परिणत रहता है, प्रसुप्त अग्नि कृष्ण-स्वरूप में परिणत रहता है । सोता हुआ अग्नि सर्वथा काला है—(अ-भासमान् है) एवं जाग्रत् अग्नि सर्वथा शुक्ल है अर्थात् भासमान् है । सोम भी काला है, अग्नि भी काला है । सोम भी शुक्ल है, अग्नि भी शुक्ल है । सोम प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा काला है । यही सावित्र-प्राण से युक्त होकर शुक्ल हो जाता है । एवमेव प्रसुप्त अग्नि काला है, जाग्रत् अग्नि शुक्ल है । काष्ठादि में सुप्त जो अग्नि है, वह वास्तव में काला है । हम तो लकड़ी को पीली-नीली-हरी देखते हैं, वह उसी लकड़ी का रंग नहीं है वह तो सूर्य का रंग है । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जब सूर्य नहीं रहता है उस समय सारे काष्ठ काले ही दिखलाई पड़ते हैं । सूर्य से भूत ज्योति-अभिप्रेत है । भूत-ज्योतिरभाव में काष्ठाग्नि का अपना प्रातिस्विक कृष्णरूप प्रत्यक्ष दिखलाई देता है । एवं जब प्रज्वलित हो जाता है तो इसका शुक्लरूप हो जाता है । ‘शुक्ल रूप सूर्य से आ गया है, अग्नि का नहीं है’ कहीं इस भ्रम में मत पड़ जाना । अग्नि के शुक्ल-रूप के साथ सूर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है । जब सूर्य नहीं रहता है, उस समय भी यदि हम सोते हुए अग्नि को जगा देते हैं (प्रज्वलित कर देते हैं) तो अग्नि के शुक्ल रूप का उदय हो जाता है । अतएव मानना पड़ता है कि अग्नि का शुक्ल रूप भी अपना प्रातिस्विक रूप ही है । बस, अग्नि और सोम में यही विशेषता है । सोम का शुक्ल-रूप अपना प्रातिस्विक नहीं है । सोम सदा काला है, अग्नि प्रबुद्धावस्था में शुक्ल है और प्रसुप्तावस्था में काला है । इसी अभिप्राय से कहते हैं :—

“आग्नेयं भूत ज्योतिरित्युक्तम् । तस्याग्नेः प्रतिबुद्ध प्रसुप्त भेदाद् द्वैविध्यं भवति । प्रतिबुद्धोऽग्निः शुक्लः । प्रसुप्तोऽग्निः कृष्णः ।” —

इन दोनों में जो अनचि (ज्वाला रहित) अग्नि है, वह काष्ठादि में सोता रहता है । जैसा कि श्रुति कहती है—

“शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते ।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत-आदिद्देवेषु राजसि ॥” (साम० १।१।४६)

हे अग्ने ! आप अपनी माता वन में अर्थात् काष्ठ में सो रहे हो । माता की गोद में सो रहे हो । ऐसे प्रसुप्त आप को मरणधर्मा मनुष्य प्रज्वलित कर देते हैं, जगा देते हैं । बस, जागने के साथ ही हे हविष्कृत् ! निरालस हो कर आप देवताओं के लिए—द्युलोक में—हमारे दिये हुए हवि को पहुँचा देते हैं और वहाँ जा कर देवताओं में शामिल हो, चमकने लगते हैं ।

संस्कृत-भाषा में एक वचन-द्विवचन-बहुवचन भेदेन तीन वचनों की ही व्यवस्था है । परन्तु वैदिक भाषा में चार वचन होते हैं । दो, चार, पाँच, सात, के लिए तो बहुवचन का प्रयोग होता है परन्तु जहाँ अ-संख्यात् भाव बतलाना हो वहाँ चौथे वचन का प्रयोग होता है । निरुक्त के क्रम से अस् (जस्) को द्वित्व दिया जाता है । इस प्रकार देवः—देवौ—देवाः—देवासः—ये चार प्रयोग बनते हैं । अग्नि का समिन्धन—यच्चयावत् मनुष्य करते हैं, अतएव 'मर्त्यासः' (मर्त्यासः) मरणधर्माणो (मर्त्यासः) कहा गया है । श्रुति में 'इन्धते' प्रयोग आया है । इसका अर्थ यही है कि अन्य अग्नि से आपको जगा दिया जाता है न कि आप में अग्नि प्रविष्ट की जाती है । काँटा, काँटे से निकलता है; मैल, मैल से कटता है, एवमेव अग्नि, अग्नि से प्रज्वलित किया जाता है, ध्यान रहे, इसका हिस्सा उसमें जरा भी प्रविष्ट नहीं होता है । इसका काम सिर्फ, उसे प्रबुद्ध कर देने का है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि दीपक से चाहे अन्य कितने ही दीपकों को प्रज्वलित कर लो, तथापि वह दीप लौ उतनी ही रहती है, जितनी कि पहले थी । यदि इसकी मात्रा अन्य दीपों में प्रविष्ट हो जाती तो—दीप की लौ उसी समय नष्ट हो जाती । इसी भाव के लिए 'शेषे' पद दिया है । यदि अन्य अग्नि इसमें प्रविष्ट हो जाता तो 'तुम काष्ठ में सो रहे हो' यह नहीं कहा जाता । 'शेषे' से श्रुति बतलाती है कि तुम इसमें सोए हो—मनुष्य लोग तुम्हें जगा देते हैं, नया अग्नि नहीं डालते हैं । जैसे 'अथ' यह निपात है तथैव आत् भी निपात है । जो 'अथ' का अर्थ है वही 'आत्' का अर्थ है । 'अथ' में 'अत्-ह्-अ' इतने अक्षर हैं । इस अत् ह् अ वाले 'अ' के लोप से अत का आत् हो जाता है । इत् का अर्थ है—'इस' और आत् का अर्थ है—'से' इससे—(पृथिवी लोक से)—यही आदित् (इत्-इस; आत्-से) का अर्थ है । अस्तु बतलाना हमें यही है कि प्रसुप्त अग्नि कृष्ण है

और प्रबुद्ध अग्नि शुक्ल है। काष्ठों में अग्नि सोता रहता है—यही बात 'शेषे वनेषु' श्रुति से सिद्ध होती है। सुप्त अग्नि काला है—यह कैसे मान लिया जाय ? बस, इसी के प्रमाण के लिए प्रसुप्त अग्नि का स्पष्ट शब्दों में, कृष्णत्व प्रतिपादन करने के लिए हम श्रुति का उद्धरण करते हैं। प्रसुप्त अग्नि सर्वथा काला है—यह बतलाती हुई श्रुति कहती है—

“यत् कृष्णोरूपं कृत्वा प्राविशस्त्वंवनस्पतीन् ।

ततस्त्वामेक विंशतिधाम संभरामि सुसंभृता ॥ इति

(तै० ब्रा० ३।७।४)

हे अग्ने ! आप कृष्णरूप धारण कर वनस्पतियों में छुपे हुए हो, ऐसे आप का हम आपके भी स्थान से संभरण करते हैं। अग्नि मर्त्य अमृत भेदेन दो प्रकार का होता है। अमृताग्नि सूर्याग्नि पृथिवी-पिण्ड में रहता है। यज्ञ द्वारा सूर्यस्थ अमृताग्नि को ही आत्मसात् किया जाता है। सूर्य २१ वें अहर्गण पर है। अतएव सात-सात-सात अहर्णों के-एक-एक थोक को-अग्निष्टोम-गोष्टोम-आपष्टोम द्वारा (२१ वें) एकविंशस्थ अग्नि का संभरण कर लिया जाता है। सुसंभृता का अर्थ है—सावधानी के साथ। जाबले के साथ, सावधानी के साथ अर्थात् वैज्ञानिक प्रक्रिया से हम आपका संभरण करते हैं। इस श्रुति से स्पष्ट ही प्रसुप्त अग्नि का कृष्णवर्णत्व सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

‘प्रसुप्तस्य च तस्याग्नेः कृष्ण वर्णत्वं श्रूयते—

‘यत् कृष्णोरूपं—कृत्वा’ इत्यादि

इसी प्रसुप्त कृष्ण अग्नि को वैज्ञानिक महर्षि ‘कृष्णमृग’ शब्देन व्यवहृत करते हैं। ‘मृग्यते स मृग्यः’ जो प्रत्यक्ष न हो अपितु ढूँढा जाय वही मृग्य कहलाता है। परोक्षप्रिय देवता ‘मृग्य’ को मृग ही कहते हैं। यह कृष्ण अग्नि वास्तव में मृग्यमाण है। इस सुषुप्त अग्नि का आँखों से प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष के लिए इसकी खोज करनी पड़ती है—सोते को जगाना पड़ता है, अतएव हम अवश्य ही इसे ‘कृष्ण’ कहने के लिए तैयार हैं। अपिच—इसी

चित्याग्नि-पृष्ठ पर वेद-त्रयी रूप से इस कृष्णाग्नि की स्थिति बतलाई जाती है—इसीलिए भी हम इसे 'कृष्ण मृग' कहने के लिए तैयार हैं ।

“तमेतं प्रसुप्तं कृष्णं 'कृष्णमृग' इत्याचक्षते । तस्यैतस्यमृग्यमाणत्वात् चित्याग्निपृष्ठे-वेदत्रयीरूपेण-प्रख्यापितत्वाच्च ।” चित्य, रोदसी, क्रन्दसी, संयती प्रत्येक पदार्थ में ये चार-चार पृष्ठ होते हैं । जैसा कि सत्यकृष्ण-रहस्य में बतलाया गया है । चित्य-पृष्ठ-पिण्ड का नाम है — बाकी के तीनों पृष्ठ, पिण्ड से ऊपर महिमामण्डल में रहते हैं । आंखों से जो वस्तु-पिण्ड दिखा-लाई पड़ता है, वह-चूँकि मर्त्याग्नि के चुनाव से बना हुआ है, अतएव हम इसे चित्य-पृष्ठ कहने के लिए तैयार हैं । इससे सिद्ध हो जाता है कि संसार के यावन्मात्र पिण्ड- 'चित्य' होते हैं । इसी परिभाषा के अनुसार हम इस पृथिवी को भी 'चित्य-पिण्ड' कह सकते हैं । इस चित्य-पृष्ठ पर वही अग्नि जिसे कि यज्ञ कहा जाता है, वेदत्रयीरूप में परिणत हो कर कृष्णमृग के रूप में विचरता रहता है । कालामृग-इसी पृथिवी पर-चित्य-पृष्ठ पर-विचरता रहता है । यह कालामृग वही अग्नि है । चूँकि यह मृग बना हुआ है, अतएव हम अवश्य ही-इस प्रसुप्त अग्नि को — 'कृष्ण' कहने के लिए तैयार हैं । काले हरिण की पीठ सफेद होती है-पेट काला होता है-सन्धि-भाग बभ्रुरंग का होता है । अग्नि यज्ञ है-इसका स्वरूप काला है । यह यज्ञ हरिण का मुख भाग — (काला पृष्ठ-भाग जो कि अग्नि यज्ञ का मुख भाग है) सूर्य की ओर खड़ा हुआ है । इस प्रकार मृग्यमाण होने से एवं कृष्ण-मृगरूप में परिणत हो कर चित्य-पृष्ठ के ऊपर रहने से-उभयथा-हम इस अग्नि को कृष्णमृग कहने के लिए तैयार हैं । यही यज्ञाग्नि कृष्णमृग बन कर वेदत्रयीरूपेण चित्य-पृष्ठ पर अर्थात् पृथिवी-पृष्ठ पर विचर रहा है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है —

“यज्ञो ह वै देवेभ्योऽपचक्राम । स कृष्णो भूत्वा चचार-तस्ययानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि-तान्यृचां च साम्नां च रूपम् । यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपम्-यानि कृष्णानितान्यृचाम् । यति वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपम्-यानि शुक्लानि तान्यृ-

चाम् । यान्येव बुभ्रूतीव हरीणि तानि यजुषां रूपम् । सैषा त्रयी-
विधायज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेव वर्णः ।" इति ॥

श्रुति कहती है —“पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्” । संसार में जो कुछ उत्पन्न हो गया है—एवं होने वाला है—वह सब पुरुष ही पुरुष है—यही इस श्रुति का शब्दार्थ है । वास्तव में यदि विचार करके देखा जाय तो संसार के यच्चयावत् पदार्थ पुरुष—स्वरूप ही मानने पड़ेंगे । आत्मा को ही ‘पुरुष’ कहते हैं । यह आत्मा पुर में अर्थात् शरीर में रहता है अतएव ‘पुरि-
शेते’ इस व्युत्पत्ति से पुरुष कहा जाता है । यह आत्मा यच्चयावत् पदार्थों में रहता है । जिन्हें आप जड़ समझ रहे हैं, उनमें भी यह अखण्डात्मा मौजूद है । इसीलिए तो ‘आत्मैवेदं सर्वम्’ यह कहा जाता है । इस आत्मा में अव्यय अक्षर—क्षर ये तीन पदार्थ रहते हैं, जिनका कि स्वरूप पूर्व प्रकरणों में बतला दिया गया है । अव्यय भी पञ्चकल है, अक्षर भी पञ्चकल है एवं क्षर भी पञ्चकल है । एवं १६ वां परात्पर है । इस प्रकार सौलह वस्तुओं की जो समष्टि है, उसी का नाम आत्मा है । इस आत्मा से शून्य कोई भी पदार्थ नहीं है, एवं आत्मा है—षोडशकल । अतएव ‘षोडशकलं वा इदं सर्वम्’ यह कहा जाता है । अव्यय—अक्षर—क्षर तीनों ही पुरुष कहलाते हैं । यद्यपि पुरुष अव्यय ही है—अक्षर और क्षर तो अव्यय की परा और अपरा प्रकृति हैं, तथापि चूँकि दोनों प्रकृतियाँ बिना पुरुष के एक क्षण भी नहीं रह सकतीं, अतएव इन दोनों को भी अव्ययवत् पुरुष कह दिया जाता है । जैसा कि अव्ययेश्वर भगवान् कृष्ण कहते हैं—

“द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥”

(गीता० १५/१६-१७)

इन तीनों की समष्टि को ही पुरुष कहते हैं । इसी का नाम आत्मा है । इससे शून्य कोई भी नहीं है, अतएव “पुरुष एवेदं सर्वम्” यह कहा गया

है। यह पुरुष 'त्रिसंस्थ' होता है। आत्मा-शरीर-महिमा-इन तीनों की समष्टि का नाम पुरुष है। आत्मन्वी स्थाने ही 'पुरुष' शब्द व्यवहृत होता है। यह आत्मपुरुष निसर्गतः अपनी तीन संस्था रखता है। इन्हीं तीनों को कैदिक भाषा में पुरुषपद और पुनःपद शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। आत्मा तो पिण्ड के केन्द्र में रहता है, जिसके लिए कि "प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर-जायमानो बहुधा व्यजायत" यह कहा जाता है। एवं जो वस्तु-पिण्ड दिखलाई पड़ता है, वही आत्मा का पुर है-शरीर है। इसी के केन्द्र में तो आत्मा रहता है। इसी का नाम 'पद' है। एवं इस पृष्ठ से चारों ओर बड़ी दूर तक इन्हीं पदार्थों का एक मण्डल बनता है, उसी मण्डल का नाम 'महिमा-मण्डल' है। अग्नि मर्त्य तथा अमृत भेदेन दो प्रकार का होता है। मर्त्यअग्नि पिण्ड में रहता है, अमृताग्नि पिण्ड से बाहर व्याप्त है। इस अमृताग्नि-मण्डल का नाम ही 'महिमा-मण्डल' है। इसे ही 'पुनःपद' कहते हैं।

अक्षिति और पशु-इनका नाम ही महिमा है। अक्षिति पशु-समष्टि को ही महिमा कहते हैं। लोक, वेद, प्राण, देवता, भूत-इनको तो अक्षिति कहते हैं। एवं पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-ये पाँच पशु कहलाते हैं। इन सब की समष्टि का काम ही 'महिमा' है। यह महिमा अन्तर्बहिर्मदेन दो प्रकार की है। अन्तर्महिमा में तो ये ही पूर्वोक्त पदार्थ रहते हैं। बहिर्महिमा में प्रजा (पुत्रपौत्रादि) वित्त (जमीन, धन इत्यादि) एवं पशु (अश्व गज-अनड्वानादि) रहते हैं। अन्तर्महिमा में जो पशु हैं, उनसे छन्द और वीर्य अभिप्रेत हैं। बहिर्महिमा का जो पशु है, उससे लोक-प्रसिद्ध पशु अभिप्रेत हैं। हमारे शरीर से उत्पन्न हो कर जो हमारे शरीर से ही बद्ध रहती है, उसे 'अन्तर्महिमा' कहते हैं। एवं जो संपत्ति हमारे शरीर से बद्ध न रह कर हमारी कहलाती है, वह 'बहिर्महिमा' कहलाती है। वित्त-प्रजा-पशु-ऐसे ही हैं। इसीलिए "यावद् वित्तं तावदात्मा" कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में चाहे वह अणोरणीयान् हो अथवा महतो महीयान् हो, आत्मा-शरीर-महिमा ये तीनों पदार्थ रहते हैं। तीनों में से प्रकृत में वेद का सम्बन्ध है। सारा ब्रह्माण्ड-स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-पृथिवी-इन चार पिण्डों में विभक्त है। चारों लोकों का वेद भिन्न-भिन्न है। स्वयंभू-मण्डल के वेद का नाम है-

ब्रह्मा
वेद क
वेद
उस
पदा
के
संसा
महि
सब
स्थ

है।
कर
एक
की
हो,
प्रत्य
की
का
यज्ञ
जिसे
संस्थ
एव
है,
चा

यच
है

‘ब्रह्मनिःश्वसित’ वेद । पारमेष्ठ्य वेद का नाम है—‘ब्रह्मस्वेद’ वेद । सूर्य वेद का नाम है—गायत्री मात्रिक वेद, एवं पृथिवी वेद का नाम है—यज्ञ-मात्रिक वेद । इन चारों वेदों का हिस्सा प्रवर्ग्य बन कर प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट हो उस पदार्थ की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है । चारों वेदों का हिस्सा प्रत्येक पदार्थ में रहता है । ये चारों वेद—ऋक्, साम, यजुः, अथर्व भेदेन चार प्रकार के हैं । जो ब्रह्मनिःश्वसित वेदत्रयी है, उससे पदार्थ—प्रतिष्ठा होती है । संसार के पदार्थों में जो एक ठहराव दीख रहा है, वह इसी ब्रह्मनिःश्वास की महिमा है । स्वयम्भू को ही ब्रह्म कहते हैं । यही वेद—रूप में परिणत हो, सब की प्रतिष्ठा बनता है । अतएव ‘ब्रह्म वास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा, ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्’ यह कहा जाता है ।

दूसरा है—पारमेष्ठ्य ब्रह्मस्वेद वेद । इसी से सृष्टि का निर्माण होता है । वेद-प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो कर—प्रजापति—इसी ब्रह्मस्वेद वेद को उत्पन्न करता है । इसी से आगे की सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं । पानी ही पैदाइश का एकमात्र कारण है । इसके अनन्तर है—गायत्री मात्रिक वेद । प्रतिष्ठित पदार्थ की उपलब्धि—ज्ञान—इसी वेद से होता है । सूर्य-रश्मियाँ पदार्थों पर संबद्ध हो, वहाँ से प्रतिफलित हो, जब हमारी आँख पर आती हैं तो उससे पदार्थ प्रत्यक्ष हुआ करता है । सूर्य-रश्मियाँ ही, जिन्हें कि हम—गायत्री मात्रिक वेद की समष्टि कहेंगे, पदार्थाकाराकारित हो, आँखों पर आ कर, पदार्थोपलब्धि का कारण बनती हैं । अतएव ‘उपलब्धिर्वेदः’ यह कहा जाता है । चौथा है—यज्ञमात्रिक वेद । वह पदार्थ अपनी जो ३३ (तीस) संस्था कायम करता है, जिसे कि वषट्कार मण्डल कहते हैं, वही यज्ञमात्रिक वेद है । स्तोम सृष्टि—संस्था विभाग—इसी यज्ञमात्रिक वेद से होती है । इसीलिए “वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे” यह कहा जाता है । शब्द—अर्थ अविनाभूत हैं, इसीलिए—‘वेदशब्देभ्यः’ कह दिया है । वस्तुतः तात्पर्य ‘अर्थेभ्यः’ समझना चाहिए ।

बस, यह ब्राह्मी स्थिति है । इससे बतलाना हमें यही है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ पुरुष हैं एवं पुरुष आत्मा—शरीर—महिमा भेदेन त्रिसंस्था है । इससे मानना पड़ता है कि सूर्य भी एक पुरुष है एवं उसमें भी आत्मा—

शरीर-महिमा तीनों संस्था मौजूद हैं। इन तीनों में, अन्तर्महिमा में जो सूर्य का अपना प्रातिस्विक गायत्रीमात्रिक वेद है, उसी का प्रकृत श्रुति से सम्बन्ध है। 'सूर्य सर्वथा काला है'—यह बात हम पूर्व प्रकरण में सिद्ध कर आए हैं। सूर्य काला है और उससे निकलने वाला जो नीरूप प्राण है, वह भी काला ही है। सूर्य से चारों ओर अन्तरिक्ष-व्यापी दिक् सोम भरा हुआ है। सूर्य से जो रश्मिरूप में परिणत हो कर निकलने वाला काला प्राण है, वही उस सोम से सम्बद्ध हो कर चमक पड़ता है। काला प्राण-सोम सम्बन्ध से ज्योतिर्मय बन जाता है। वही ज्योतिर्मय मण्डल 'सोलर सिस्टम' नाम से प्रसिद्ध है।

सूर्य से बाहर की ओर निकलने वाला जो प्राण है, वह 'ऋक्' कहलाता है। एवं वही 'ऋक्' बाहर जा कर सोलर सिस्टम में परिणत हो कर सोम सम्बन्ध से प्रज्वलित हो 'सोम' कहलाने लगता है। एवं इस ऋक् साम में जो अग्निभाग है, वही यजुः कहलाता है। सूर्य देवताघन है। इसीलिए 'चित्रं देवानाम्' इत्यादि कहा जाता है। देवता सारे आग्नेय हैं। अग्नि ही यज्ञ के अधिष्ठाता हैं। अग्नि में जब सोम की आहुति पड़ती है, तभी यज्ञ होता है। अतएव हम अग्नि को 'यज्ञ' कहने के लिए तय्यार हैं। ज्योतिर्भाग का नाम देवता है। किन्तु, इस सूर्य से बाहर निकलने वाला यज्ञ-स्वरूप जो नीरूप आग्नेय प्राण है, वह सर्वथा काला है, सूर्यघन देवताओं से चारों ओर निकल कर फैल जाता है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर—"यज्ञोह वै देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार" यह कहा गया है। आगे जा कर श्रुति कहती है कि उस कृष्णमृग के जो शुक्ल और कृष्ण सोम थे, वही ऋक् और साम-स्वरूप थे।

"तस्य यानि शुक्लानि कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां च साम्नां च रूपम् ।"

श्रुति कहती है—उसके जो शुक्ल लोम हैं वह साम का रूप है, जो कृष्ण लोम हैं वह ऋक् का रूप है। वास्तव में बात सच है। हमने बतलाया है कि सूर्य से निकलने वाला जो नीरूप प्राण है, वह सर्वथा काला है एवं वही—'ऋक्' कहलाता है। वही सोम सम्बन्धेन सामरूप में परिणत होता हुआ—

ज्योतिर्मय बन जाता है। चूँकि सोम सम्बन्धेन सामरूप में परिणत हुआ प्राण शुक्ल है, अतएव हम साम को 'शुक्ल' कहने के लिए तैयार हैं।

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—“यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपम्—यानि कृष्णानि तान्यृचाम् ।”

आगे जा कर श्रुति कहती है—अथवा—उलटा समझो—जो कृष्ण लोम हैं, उन्हें साम समझो, जो शुक्ल लोम हैं, उन्हें ऋक् समझो।

जिससे क्रम प्रारम्भ होता है, उसे ऋक् कहा जाता है; एवं जहाँ क्रम की समाप्ति होती है—उसे साम कहा जाता है। ऋक्—साम व्यवस्था—क्रमापेक्षया होती है। यदि सूर्य की ओर से ऋक्—साम का क्रम रखते हैं तो ऋक् सर्वथा काली है, एवं साम (सोम—सम्बन्ध से प्रज्वलित एवं वितत वही ऋक्—प्राण) शुक्ल है। परन्तु साम की ओर से चलते हैं तो स्थिति बदल जाती है। साम—ऋक् बन जाता है; ऋक्—साम बन जाती है। यह साम, जिसे कि हम ऋक् कहेंगे, चूँकि शुक्ल है, अतएव इसे (ऋक् को) हम शुक्ल कहने के लिए तैयार हैं। इसके आगे के साम को जिसे कि हमने बहिर्ऋक् बतलाया था—हम काला कहेंगे। पहले काला है, बाद में शुक्ल है। एवं अपेक्षया दोनों ऋक् साम हो सकते हैं। यदि सूर्य की ओर से चलते हैं तो ऋक् काली है, सोम सफेद है; क्योंकि उस क्रम में पहले काला प्राण ही ऋक् होगा एवं शुक्ल की ओर से चलते हैं तो ऋक् सफेद हो जाती है, साम काला हो जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“यदि वेतरथा—यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपम् । यानि शुक्लानि तान्यृचाम् ।” सफेद और काले के बीच में यजु अग्नि रहता है। शुक्ल—कृष्ण का सन्धिस्थानीय जो वर्ण है, वह बभ्रु कहलाता है। अतएव—‘यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषां रूपम्’ यह कहा गया है। बस, यह त्रयीविद्या ही तो यज्ञ है। श्रुति कहती है कि यह जो तुम काला हरिण देख रहे हो, वह इसी वेदत्रयी का शिल्प है। प्रजापति भगवान् ने वेदत्रयी का स्वरूप समझाने के लिए कृष्णमृग का निम्मीकरण किया है। कृष्णमृग साक्षात् वेदत्रयीस्वरूप है। वही प्राण इसमें उल्बगरूप से घुसा हुआ है।

“सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः ।”

यह पूर्वोक्त श्रुति का एक अर्थ है । यह अनुगम श्रुति है । अनुगम श्रुति के अनेक अर्थ होते हैं । इसी प्रकार पूर्वोक्त अनुगम श्रुति के भी अनेक अर्थ होते हैं, जिनका विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है । सूक्ष्मरूपेण केवल एक अर्थ और बतला कर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं ।

सूर्यवेद को गायत्रीमात्रिक वेद कहते हैं, जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है । इस सूर्य पिण्ड के चारों ओर यही वेद-मण्डल रहता है । वेद-मण्डल के भीतर पारमेष्ठ्य आपोमय का जो प्रवर्य-भाग है उसकी स्थिति है । इसके बाद सूर्य का हिरण्य-मण्डल है । उसके बीच में काला-सूर्य-पिण्ड रहता है । इस प्रकार (१) वेद-मण्डल (२) आपोमण्डल (३) हिरण्य मण्डल (४) सूर्य पिण्ड-सूर्य में ये चार संस्थाएँ हैं । ‘सूर्यो चक्षुषीभूत्वा प्राविशत्’ के अनुसार मानना पड़ता है कि सूर्य ही चक्षु में है । कैसे है ? इसका विवेचन-‘चाक्षुष कृष्ण-रहस्य’ में किया जाएगा । यहाँ पर इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि सूर्य में चार संस्थाएँ हैं । चारों में वेद-मण्डल शुक्ल है, आपोमण्डल काला है, हिरण्य-मण्डल हिरण्य है-इसे भी हम शुक्ल ही कहेंगे-इसके बाद का सूर्य-पिण्ड काला है ।

“ऋङ्मूर्तिर्मण्डलं साम” यह सिद्धान्त समझना चाहिए । मूर्ति को ऋक् कहते हैं, मण्डल को साम कहते हैं । प्रत्यक्ष हमें इसी ऋङ्मूर्ति का हुआ करता है । ऐसी अवस्था में यदि उस काले सूर्य-पिण्ड को ‘मूर्ति’ माना जाता है तो वह ऋक् कहलाएगा और उसके आगे का हिरण्य-मण्डल साम कहलाएगा । सूर्य-पिण्ड काला है-यह ऋक् है । एवं हिरण्य शुक्ल है-यही साम है । बस, इसी अभिप्राय से—‘यान्येव शुक्लानि तानि साम्नांरूपम्-यानि कृष्णानि तान्यृचां रूपम्’—यह कहा है । यदि हिरण्य-मण्डल तक को मूर्ति-मान लिया जाता है तो ‘ऋक्’ सफेद हो जाता है, एवं उसके आगे का पारमेष्ठ्य सोम साम काला हो जाता है, अतएव ‘यदिवेतरथा’ कहा है । इसके अनन्तर आपोमय मण्डल ऋक् मान लिया जाता है तो ऋक् काला हो जाता है और उसके बाहर का वेद-स्वरूप साममण्डल शुक्ल हो जाता है । मूर्ति की

अपेक्षा से ऋक्, साम बन जाता है; साम, ऋक् बन जाता है। यही पूर्व श्रुति का दूसरा अर्थ है। कृष्ण-मृग इसी वेद-त्रयी का शिल्प है। इससे परमेश्वर सूचित करता है कि जिस देश में कृष्णमृग स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करे-समझो, वही वेदभूमि है, पुण्यभूमि है। चातुराश्रम्यादिव्यवस्था उसी देश के लिए है। पूर्वोक्त श्रुति से-प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि यह अग्नि प्रसुप्तावस्था में सर्वथा काला है। चूँकि यह मृग्यमाण है, इसलिए, और वही कृष्णमृग रूप में परिणत है इसलिए उभयथापि हम इसे 'कृष्णमृग' कहने के लिए तैयार हैं। पूर्वश्रुति में 'कृष्णमृग' को यज्ञ की अग्नि का अवतार बतलाया है। काष्ठों में प्रसुप्त अग्नि कृष्ण है-यह बात पूर्व श्रुति से सिद्ध नहीं होती। यहीं पूर्व श्रुति में अस्वारस्य आता है, अतएव भाष्यकार ऐसी श्रुति का उद्धरण करते हैं, जिससे स्पष्ट ही अभिमत अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। श्रुति कहती है—'अग्निर्देवेभ्यो निलायत कृष्णोरूपं कृत्वा । स वनस्पतीन् प्राविशत् ।' इति

सूर्य्य देवतामय है। सूर्य्य में रहने वाला अग्नि, प्रकाश रूपमें अलग हो कर पृथिवी में आ जाता है। पृथिवी का जो अग्नि है, वह वास्तव में सूर्य्य की वस्तु है। वही प्रवर्ग्य बन कर पार्थिव पदार्थों में घुसा हुआ है। पृथिवी के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब आग्नेय हैं, अतएव 'अग्निर्भूस्थानः' यह कहा जाता है। कृष्ण का अर्थ है-प्रज्ञात। अग्नि अज्ञात बन कर पार्थिव काष्ठादि पदार्थों में घुसा हुआ है। ताप-प्रकाश ही अग्नि का वास्तविक स्वरूप है। काष्ठ में जो अग्नि है, न उसमें ताप है और न प्रकाश है, अतएव हम उसे प्रसुप्त कहने के लिए तैयार हैं। 'काष्ठ अग्निमय पिण्ड है'-इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सिर्फ काष्ठ ही अग्निमय पिण्ड है। नहीं-नहीं, अपितु पार्थिव पदार्थ सब अग्निमय हैं। मिट्टी भी अग्नि ही है। अग्नि से पानी होता है, पानी से पृथिवी बनती है। परम्परा सम्बन्धेन मिट्टी भी अग्नि ही है। काष्ठ को जलाया जाता है तो कुछ मिट्टी बाकी बच जाती है-इससे यह न समझ लेना चाहिए कि—'आदिदेवेषुराजसि' के अनुसार यदि मिट्टी भी अग्नि होती तो द्युलोक में चली जाती, चूँकि नहीं जाती, अतएव मानना पड़ता है कि मिट्टी अग्नि नहीं है।

समुद्र में हम देखते हैं कि जहाज किनारे पर न आ कर किनारे से बहुत दूर खड़ा रहता है। हम पूछते हैं कि ऐसा क्यों? इसका उत्तर यही है कि जहाज को ठहरने के लिए पानी की जितनी गहराई अपेक्षित है, उतनी गहराई वहाँ नहीं है। अतएव जहाज किनारे नहीं जा सकता। वस, वही हालत यहाँ भी समझनी चाहिए। अग्नि जलाना चाहता है परन्तु उसे जलाने के लिए जितना अवकाश मिलना चाहिए, उतना अवकाश नहीं मिलता। पार्थिव-प्राण अपने आकर्षण से अग्नि के वेग को रोक लेता है, अतएव उस पदार्थ को सर्वात्मना अग्निमय नहीं बना सकता। यदि अधर आकाश में कागज को जलाया जायगा तो वह अवश्य ही भस्म हो जायगा। परन्तु वहाँ भी जरा सी बानी (राख) शेष रह जाती है। क्यों कि वहाँ वायु अवरोधक बन जाता है। उस राख को अग्नि हजम नहीं कर सकता—एतावता राख अग्नि नहीं है—यह अवैज्ञानिक भाषा है। अग्नि में जितनी शक्ति होती है, उतना ही पदार्थ अग्निमय बनता है। हम जो अन्न खाते हैं, उसे शरीराग्नि पचाता है। परन्तु सब को नहीं पचा सकता। रसभाग को चूस कर अग्निमय बना डालता है, मलभाग को छोड़ देता है। वही मल जिसे कि हमारा अग्नि नहीं पचा सकता था, शूकर के पेट में जा कर अग्नि बन जाता है। वहाँ भी कुछ शेष बच जाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि इस तरह परम्परा से वह निःशेष हो जाता है। अग्नि कुछ न कुछ शेष छोड़ता है, इसी का नाम उच्छिष्ट है। इसी से संसार के यच्चयावत् पदार्थों की स्थिति रहती है। इन वृक्षों में पार्थिव मिट्टी है, सूर्य का तेज है और चन्द्रमा का सोम है। तीनों के मेल से औषधि वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें पृथिवी की मिट्टी भी अग्नि है, सौर तेज अग्नि है। इस प्रकार अग्नि का हिस्सा ही अधिक है। सूर्य और पृथिवी का अग्नि चान्द्र सोम को पेट में ले कर अग्नि की सूरत बना हुआ है। इन दोनों में जो पार्थिव अग्नि है, उसका नाम 'अङ्गिरा' है। सौर अग्नि का नाम सावित्र अग्नि है। पार्थिवाङ्गिरा अग्नि प्रबलवेग से ऊपर जाता रहता है। खुले मैदान में, इस जाते हुए अङ्गिरा का प्रत्यक्ष नहीं होता। जो बहुत गहरा तहखाना है, वहीं इसका प्रत्यक्ष होता है। ऊपर जाने को तो अङ्गिरा को मौका मिलता नहीं, अतएव वहीं व्याप्त रहता है। इसी अङ्गिरा अग्नि के मेल से एवं सावित्राग्नि के मेल से वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। इस

विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—“अग्निं वै देवेभ्यो निलायत कृष्णो रूपं कृत्वा स धनस्पतीन् प्राविशत् ।” काष्ठ में जो ग्रीर-ग्रीर रंग दिखलाई पड़ते हैं, वे सूर्य-रंग हैं। वास्तव में अग्नि काला ही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि संसार भर के वृक्ष जलने के बाद काले ही हो जाते हैं। यदि उनका कृष्ण-स्वरूप न होता तो सब एक ही परिणाम पर न पहुँचते। परन्तु परायण सब का कृष्ण रंग ही है, अतएव हम प्रसुप्त अग्नि को कृष्ण कहने के लिए तैयार हैं।

यही अग्नि जब प्रबुद्ध हो जाता है तो शुक्ल रूप में अर्थात् हिरण्मय रूप में परिणत हो जाता है। बस, हिरण्मय बनते ही सोम सम्बन्धेन इसमें सात रंग हो जाते हैं, जिनका कि विस्तृत विवेचन पूर्व प्रकरण में कर दिया गया है। सप्तवर्णात्मक जो प्रबुद्ध अग्नि है, इसमें भी एक काला रंग है। प्रसुप्त अग्नि का जो कृष्ण था, वह रंग से ताल्लुक नहीं रखता था वह तो भासाभाव स्वरूप था। एवं प्रबुद्ध अग्नि के सात रंगों में जो काला रंग है, वह आँखों से दिखलाई पड़ता है। जले हुए अङ्गारों में अङ्गिरा से उत्पन्न इस अङ्गिरस कृष्ण का (कोयले का) प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है—

“अथयः सप्तवर्णोऽयं प्रतिबुद्धोऽग्निस्तत्राप्येकः कृष्णो भवति ।
दृश्यते हि प्रत्यक्षं स अङ्गिरसः कृष्ण वर्णो दाग्धाङ्गारादौ ।”

इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि काले वस्त्र में, काली भीत (दीवाल) में, कोयले में जो कृष्ण वर्ण अनुरञ्जित देखा जाता है, वह सारा काला वर्ण आग्नेय ही समझना चाहिए। अङ्गिरा अग्नि काला भी है, सफेद भी है। प्रबुद्धोऽग्नि सफेद है, इसी के अन्तर्गत एक काला रंग भी आता है। एवं प्रसुप्त अङ्गिरा शुद्ध काला है जो कि इन्द्रियागोचर है, एवं सोम शुद्ध काला ही है। जिसे काला रंग कहते हैं जो कि काला रंग मिश्रण से बदल जाय, वह सर्वथा आग्नेय है। जो काला रंग मिश्रण से न बदले, सदा एक रूप रहे, वही सोम कृष्ण है। जिसे हमने अङ्गिरा बतलाया है, उसमें भी सोम अवश्य ही रहता है। बिना सोम के अङ्गिरा एक क्षण भी नहीं रह सकता।

अग्नि-सोम दोनों सच्चे मित्र हैं, कभी एक दूसरे से जुदा नहीं होते । अतएव श्रुति कहती है:—

“अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥”

(ऋग्वेद ५।४४।१५)

आग्नेय कृष्ण सदा सौर प्रकाश में ही दीखता है, एवं सौम्य कृष्ण जो कि अमृत स्वरूप है, वह भूत-ज्योति के अभाव में ही दीखता है । सौर प्रकाश में तो वह सत्य सोम सत्य कृष्ण हिरण्मय पात्र से-सूर्य के हिरण्मय सोलर सिष्टम से-ढका रहता है । अतएव कहा जाता है—

“हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषान्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।”

इति ॥ (वृ० आ० उ० ५।१५।१)

सब का खुलासा यही हुआ कि सूर्य सत्ता में जितने रंग दीखते हैं, सब आग्नेय ही हैं, चाहे काला हो, चाहे पीला हो, कैसा ही हो । एवं सूर्य अर्थात् भूत-ज्योति के अभाव में जो रात्रि आदि का अन्धकार है, वह सर्वथा सौम्य ही समझना चाहिए । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

“एवं यावान् वा असौ कृष्ण वस्त्रादौ कृष्णवर्णोऽनुरञ्जितो दृश्यते ससर्वोऽयमाग्नेयः कृष्णो वर्णः । इति ॥

यह काला रंग चूंकि आग्नेय है, अतएव अग्निमय सूर्य ज्योति के प्रकाश में इसका चक्षु से प्रत्यक्ष ग्रहण होता है । प्रकाश में हम इसके अच्छी तरह दर्शन करते हैं । यह काला रंग अनिरुक्त कृष्णवत् सूर्य-ज्योति से अन्तर्हित नहीं होता । अन्तर्हित होने की क्या कथा ? सूर्य-सत्ता में ही इस काले आग्नेय रंग का प्रत्यक्ष होता है । सूर्य चूंकि अग्निमय है, अतएव सजात्येन जितने भी आग्नेय वर्ण हैं—वे अवश्य ही सूर्य-प्रकाश में दीख आते हैं । उनका सूर्य-प्रकाश में दीख आना ही उनके आग्नेयत्व का दृढ़ प्रमाण है । हमें जो

सूर्य सहकारेण आँखों से दिखलाई पड़ता है वह सब अग्नि का कर्म है। आँखों से जो भी रूप दिखलाई पड़ता है, वह सारा आग्नेय वर्ण है। रूप प्रत्यक्षाधिष्ठाता अग्नि ही है—

“स चाग्नेयत्वात् प्रत्यक्षं चक्षुषा सूर्यं ज्योतिः सहकारेण दृश्यते । न चानिरुक्त कृष्णवदयं कृष्णो वर्णः सूर्यं ज्योतिषा विरुध्यते । सर्वोऽह्याग्नेयः सूर्यं प्रकाशे द्रष्टुं युज्यते—“यत् किञ्चिद् दार्ष्टविषयकं तत् सर्वमग्नेः कर्म ।” इति निरुक्तस्मरणात् ।”—

इस प्रकार भूत-ज्योति में दो प्रकार का कृष्ण सिद्ध हो जाता है। एक तो मृग्य कृष्ण है जो कि आँखों से नहीं दिखलाई पड़ता एवं काष्ठ में सुप्त रहता है—दूसरा वह कृष्ण है जो कि प्रबुद्ध अग्नि के सात रंगों में से काला रंग है। इन दोनों में जो मृग्य कृष्ण है वही यज्ञ-स्वरूप है। श्रुति में मृग्य कृष्ण के लिए ही “यज्ञो ह वै कृष्णो भूत्वा चक्राम—स कृष्णो भूत्वा-चत्वारः” यह कहा है। चूँकि मृग्य कृष्ण यज्ञ है, अतएव हम इस मृग्यकृष्ण को ‘विष्णु’ कहने के लिए तैयार हैं। ‘यज्ञो वै विष्णुः’—‘विष्णुर्वै यज्ञः’—इससे यज्ञ का विष्णुत्व सिद्ध हो जाता है। अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है। सोम परमेष्ठि-मण्डल में है। पार्थिव अग्नि, घट-तरल-विर-लावस्था में-परिणत हो कर अग्नि-वायु-आदित्य रूप धारण कर सूर्य तक व्याप्त रहता है। अग्नि की आठ अवस्था का नाम वसु है, वायु की एकादश अवस्था का नाम रुद्र एवं आदित्य की द्वादश अवस्था का नाम द्वादश आदित्य है। आठ वसुओं में पहले वसु का नाम अग्नि है, द्वादश आदित्यों में सबसे अन्तिम आदित्य का नाम विष्णु है। इन दोनों के बीच में सारे देवता हैं, अतएव—

“अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता ।”

(ऐत० ब्रा० १।१)

यह कहा जाता है। विष्णु इस अग्नि यज्ञ के अन्त में है। इन्हीं में पारमेष्ठ्य सोम आहुत होता रहता है। इन्हीं के कारण आग्नेय यज्ञ की स्थिति रहती है, अतएव ‘विष्णुर्वै यज्ञः’ यह कहा जाता है। वही यज्ञाग्नि

काष्ठों में प्रसुप्त है, अतएव हम इसे कृष्णमृग कहते हैं। यह यज्ञ-स्वरूप है, अतएव मृग्यकृष्ण को 'विष्णु' का अवतार कहने के लिए तैयार हैं। भगवान् कृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाने का यही रहस्य है। कृष्ण को महादेव का अवतार नहीं बतलाया जाता, रुद्र का अवतार नहीं बतलाया जाता अपितु विष्णु का अवतार बतलाया जाता है। वास्तव में यह विष्णु के ही अवतार हैं।

यह जो मृग्य कृष्ण है जिसे कि विष्णु कहेंगे, सर्वथा नित्य है। यह मृग्य कृष्ण उस वर्ण कृष्ण का कारण है। कारण सत्य ही होता है, अतएव हम इस मृग्य कृष्ण को 'सत्य' कहने के लिए तैयार हैं। यही विष्णु भगवान्-मृग्यकृष्ण-भगवान् अमृतरूपता के कारण उपास्य-कृष्ण समझने चाहिए। यही कृष्ण 'निरुक्त' कृष्ण है। एवं सातों में जो एक कृष्ण-वर्ण है, वह भौतिक हैं अतएव मर्त्य है। अतः वह उपासना में अपेक्षित नहीं है। उपास्य-कृष्ण-विष्णु के अवतार मृग्य कृष्ण ही हैं।

“तथा चेत्थं भूत-ज्योतिषि कृष्ण द्वैविध्ये योऽयं मृग्यः कृष्णः स यज्ञ-त्वात् विष्णुर्देव इत्यसौ भगवानुपास्यः कृष्णः प्रतिपत्तव्यः—तस्यामृतरूप-त्वात् । अथ यः सप्तवर्णेष्वयमेकः । कृष्णवर्णः स भौतिकत्वान्मर्त्यो भवतीति नातितरामपेक्ष्यते ।”

इस प्रकार हम ब्रह्म-लक्षण ज्ञान-ज्योति, सोमलक्षण भूत-ज्योति, और अग्नि-लक्षण भूत-ज्योतिर्भेदेन तीन प्रकार की कृष्ण-ज्योति की उपासना करते हैं। आत्मा को मन-प्राण-वाङ्मय बतलाया जाता है। इसमें मन प्राण-एक दर्जे की चीज है और वाक् पृथक् दर्जे की चीज है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश ये पाँचों भूत 'वाक्' से गृहीत होते हैं। इन पाँचों भूतों का, जो कि विश्व-स्वरूप है, मूलभूत वही प्राण है। यह प्राण सोमात्मक है। यही अनिरुक्ता रात्रि है। इसी को अनिरुक्त कृष्ण कहते हैं। यह अनिरुक्त कृष्ण विश्वा-तीत भी है, विश्व भी है। विश्व में रात्रि-स्वरूप है, विश्वातीत में महारात्रि-स्वरूप है। यह कृष्ण सत्य कृष्ण कहलाता है। यही विश्व-सृष्टि के पूर्व रहता है। यद्यपि यह भूत में दाखिल नहीं है, तथापि तादर्थ्यात् इसे भूत कह दिया जाता है। सब का सारांश यही हुआ कि विश्वसृष्टि का जो वाग्रूप

है—जो कि सत्य का (अनिरुक्त कृष्ण का) भी सत्य है—सर्वकार्याभावस्वरूप जो सत्ता है अर्थात्—विषयानुदयाक्रान्ता मूल सत्तारूप है—वही पहला निरुपाख्य कृष्ण है । “आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमसक्षणम्” यह इसी निरुपाख्य-कृष्ण के लिए कहा गया है । श्रुति कहती है—

‘तम आसीत् तमसागूढमग्ने’—तम, तम से ढका हुआ था । इसमें जो तम ढका हुआ है, वह निरुपाख्य-कृष्ण है । जिसने इसे ढक रखा है, वह यही अनिरुक्त कृष्ण है । यहाँ विश्व-ज्योति का सर्वथा अभाव है, अतएव हम इस निरुपाख्य कृष्ण-ज्योति को ब्रह्म-लक्षण-शुद्ध ज्ञान-ज्योति कहने के लिए तैयार हैं । यही हमारे पूर्व-प्रपञ्चित ‘सत्य कृष्ण’ हैं—

“तथा चेत्थं त्रिविधं ज्योतिः कृष्णमुपास्महे—ब्रह्मलक्षणं ज्ञानज्योतिः । अथ सोमलक्षणमग्निलक्षणं च भूत-ज्योतिरिति । विश्वसृष्टेः प्राग्रूपं सत्यस्य सत्यं कार्यं सत्ता विनाकृतं मूलसत्ता रूपं निरुपाख्यं कृष्णं प्रथमम् ।”

एवं विश्व-स्वरूप में प्रकाश का प्रतिद्वन्द्वी—“ज्योतिरभावस्तमः” वाला, नाना ज्ञान को रोकने वाला—अतएव—अभेदज्ञानात्मक जो सौम्य रूप है, वही दूसरा अनिरुक्त कृष्ण है । ज्ञान और विज्ञान-दो ही तत्त्व हैं । एक से अनेक भाव की ओर जाना-विज्ञान कहलाता है । इसी नाना भाव का-अनेकता का-भिन्नता का-नाम संसार है । एवं अनेक भाव से एक की ओर जाना ज्ञान पक्ष है । इसी एकत्व का-अभेद का-नाम-विश्वासीत है—ब्रह्म है । दिन में—सौर प्रकाश में—हमें-नाना भावों के दर्शन होते रहते हैं, परन्तु रात्रि में सारे नाना भाव छुप जाते हैं, अतएव इस रात्रि के सौम्य रूप को—ज्ञानसाधनत्वात् हम ज्ञानात्मक कहने के लिए तैयार हैं । यह सौम्य कृष्ण-ज्ञानानन्त्य का प्रतिबन्धक है—अतएव हम अवश्य ही इसे ‘ज्ञानमूर्ति’ कह सकते हैं । यद्यपि प्रकृत में भाष्यकार ने अनिरुक्त को विश्व के अन्तर्गत ही बतलाया है, परन्तु पहले के प्रकरणों में इसे विश्वासीत भी बतलाया गया है—

“विश्वसृष्टि स्वरूपे तु प्रकाश प्रतिद्वन्द्विरूपं नानात्व प्रतिबन्ध-कसर्वैकत्वज्ञानात्मकं यत् सौम्यरूपं तदनिरुक्तं कृष्णं द्वितीयम् ।” २

नाना भाव स्वरूप में परिणत काष्ठ में सुप्त जो मृग्य कृष्ण है—जिसे कि हमने विष्णु का अवतार बतलाया है—वही निरुक्त कृष्ण है । अनि-

रुक्त कृष्ण की अपेक्षा यह निरुक्त है। यदि उस भूत-ज्योति-स्वरूप काले रंग को निरुक्त कहा जाता है तो उसकी अपेक्षा यह अनिरुक्त कृष्ण ही है।

यह संसार-संपत्ति-स्वरूप है—शुक्ल है—सिद्ध है—कार्य-स्वरूप है। इसका कारण यही विश्वातीत सत्य कृष्ण है। इस प्रकार वह एक ही निरुपाख्य सत्य कृष्ण—मायाबल के कारण—तीन अवस्थाओं में परिणत हो कर निरुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त—इन तीन तरह से ज्ञान का विषय बन जाता है। एक ही तीन बन जाता है—

“नाना भावमप्रतिपत्तावपि यदाग्नेयं रूपं तन्निरुक्तं कृष्णं तत् तृतीयम् ॥ स एक एवायं ज्योतिः कृष्णस्त्रैविध्येन प्रतिपत्तव्यः ।”

कृष्ण, बिना शुक्ल के एक क्षण भी नहीं रहता; वह सदा शुक्ल-भाव से आलिङ्गित ही रहता है। यह शुक्ल इस कृष्ण का मिथुन भाव है, जोड़ा है। जैसे स्त्री-पुरुष का मिथुन है तथैव शुक्ल-कृष्ण का मिथुन है। कृष्ण चूँकि तीन हैं—अतएव—मिथुन-स्वरूप वह शुक्ल भाव-प्रतिकृष्ण, भिन्न होता हुआ अपने तीन स्वरूप धारण कर लेता है। तीन ही कृष्ण हैं तो तीन ही शुक्ल हैं। कृष्णभाव कारण है—विश्वातीत है। शुक्लभाव—विश्व है। विश्व-भासमान है—प्रकाशित हो रहा है, इसीलिए तो हम कार्य-स्वरूप विश्व को शुक्ल कहने के लिए तैयार हैं। यह विश्व सिद्धावस्था है। संपत्तिरूप है—अतएव हम विश्वस्वरूप इस शुक्ल भाव को “राधा” कहने के लिए तैयार हैं। ‘राध संसिद्धौ’ से ही तो राधा बना है। कृष्ण—कारण से शुक्ल—विश्व सिद्ध हुआ है। शुक्ल सिद्धावस्था है—संपन्नावस्था है, अतएव हम ‘शुक्ल’ को अवश्य ही राधा कह सकते हैं। चूँकि कृष्ण तीन हैं, अतएव राधा भी तीन ही हो जाती हैं:—

“अथ कृष्णस्य मिथुनं शुक्लो भावः सप्रतिकृष्णं भिद्यते । राधेति संज्ञायते ।”

पूर्वोक्त तीनों कृष्णों में से जो निरुपाख्य ब्रह्म ज्योति है, उसका मिथुन विश्व-ज्योति है। विश्वातीत निरुपाख्य कृष्ण का मिथुन भाव विश्वज्योति-विश्वातीत-तमोमय होने के कारण कृष्ण है—विश्व-भासमान होने के कारण शुक्ल है, अतएव ‘राधा’ पदवाच्य है। कृष्ण कारण है, राधा कार्य है। कृष्ण

पुरुष है, राधा प्रकृति है। प्रकृतिपुरुष दोनों अविनाभूत हैं। न कृष्ण राधा बिना रह सकते हैं, न राधा कृष्ण बिना रहा सकती है। दोनों में अभेद है। एक ही ब्रह्म का आधा भाग कृष्ण है, आधा राधा है। नाम दो हैं—शरीर एक है। यह राधा-कृष्ण सदा रास-क्रीड़ा किया करते हैं। जब नृत्य करते-करते—राधा पीछे चली जाती है तो उसके दर्शन होने लगते हैं, कृष्ण उधर चले जाते हैं तो वे हमारे सम्मुख हो जाते हैं। सर्गक्रम में राधा ही राधा के दर्शन होते हैं, प्रतिसर्ग में कृष्ण के दर्शन होते हैं। कारण से कार्य—कार्य से कारण—यह रास-क्रम अनवरत चलता रहता है—

“तत्र निरुपाख्य ब्रह्म ज्योतिषो मिथुनं विश्व-ज्योतिः ।” [१]

दूसरे हैं—विश्वान्तर्गत—ज्योतिरभावस्वरूप—अनिरुक्त—कृष्ण। इस अनिरुक्त सोमज्योति का मिथुन—अग्निज्योति है—सूर्यज्योति है। प्रकाश ही इस अनिरुक्त कृष्ण का मिथुन-भाव है। रात्रि कृष्ण है, दिन राधा है। दोनों मिले हुए हैं। रात के बाद दिन है, दिन के बाद रात है। दोनों नृत्य कर रहे हैं। एक बार तमोमय रात्रि के अधिष्ठाता भगवान् कृष्ण सामने आ जाते हैं, एक बार विश्व की प्रकाशरूपा संपत्ति की अधिष्ठात्री भगवती राधा सामने आ जाती है। इस प्रकार अनवरत राधाकृष्ण में रासक्रीड़ा हो रही है।

‘अनिरुक्तस्य सोमज्योतिषो मिथुनमग्निः ज्योतिः ॥ [२]

निरुक्त विष्णु-स्वरूप कृष्ण मृगज्योति है—उनका मिथुन अर्चिज्योति है। सुप्तकृष्ण मृगकृष्ण का मिथुन भाव—अर्चिराधा है। वस, इस प्रकार तीनों कृष्णों के क्रमशः—(१) विश्व-ज्योतिः (२) अग्नि-ज्योतिः (३) अर्चि ज्योतिः ये तीन राधारूप हैं।

“निरुक्तस्य मृग ज्योतिषो मिथुनमर्चिज्योतिः। तान्येतानित्रीणि राधारूपाणि ।” इन तीनों प्रतियोगी शुक्ल भावों से युक्त हो कर तीनों कृष्ण अवस्था—विशेष मात्र के कारण भिन्न हो जाते हैं। वास्तव में तीनों कृष्ण तीनों राधा एक हैं—“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन” यही अन्तिम सिद्धान्त है।

“तैरेतैः प्रतियोगिभिः स द्वितीयास्त्रयः कृष्णा अवस्थामात्र-भिन्ना
द्रष्टव्याः ।”

पूर्वोक्त तीनों कृष्ण राधा से आलिङ्गित होकर अपनी स्थिति कायम करते हैं । तीनों ही कृष्ण अपनी-अपनी राधा से संश्लिष्ट ही रहते हैं । कभी राधा सामने आ जाती है तो कभी कृष्ण सामने आ जाते हैं । इस प्रकार पर्यायेण बारी-बारी से-अन्तर्हित राधा-कृष्ण एवं राधान्तर्हित कृष्ण सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है । यही ‘परमात्मा’ नाम से व्यवहृत होता है । इसी की खोज करनी चाहिए, इसी की उपासना करनी चाहिए—

“तत्रायं सर्वविधः कृष्णो राधालिङ्गित-एव-सन् स्थितिं धत्ते । सोऽ-
यमन्तर्हितराधो राधान्तर्हितो वा पाय्ययोगोपपन्नः सर्वत्राभिव्याप्नोति । स
परमात्मा । सोऽन्वेष्टव्यः । स विजिज्ञासितव्यः । सोऽनुध्यातव्यः । स उपा-
सितव्यः ॥

“यः सत्यः क्व च निरुपाख्यकृष्णरूपो यः सत्यः क्वचिदनिरुक्त कृष्ण-
उक्तः ।

यः सत्य क्वचन निरुक्तकृष्णमूर्तिस्तं सत्यं शरणमुपैहि कृष्णसंज्ञम्
॥१॥

यः शुक्लस्त्रिविध उदेति साऽस्तिराधाश्लिष्यन्त्या वृणुते इयं त्रिभाव
कृष्णम् । च्छन्नोऽयं क्वचिदपि राधयाऽथ राधामाच्छाद्य क्वचिदवभाति तं
प्रपद्ये ॥२॥

यज्ञात् प्रागिह निरुपाख्यचित् स्वयम्भूः-ज्योतिः प्रागिह पारमेष्ठ्यया
निरुक्तः ।

भूतज्योतिरिह बभौ निरुक्तः कृष्णः सत्यात्मा विभवतिकृष्णः शय्यत् ॥३॥

॥ इति ज्योतिःकृष्णरहस्यं समाप्तम् ॥

ग्रन्थ प्राप्ति:-

कृष्णचन्द्र शर्मा,

“मानवाश्रम विद्यापीठ”

दुर्गापुरा रोड, जयपुर-३०२०१५
